ज्ञानार्णव

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!

श्रीमद्-शुभचंद्राचार्य-प्रणीत

श्री

ज्ञानार्णव

मूल प्राकृत गाथा,

आभार :

!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥

॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री-ज्ञानार्णव नामधेयं, अस्य मूल-ग्रन्थकर्तार: श्री-सर्वज्ञ-देवास्तदुत्तर-ग्रन्थ-कर्तार: श्री-गणधर-देवा: प्रति-गणधर-देवास्तेषां वचनानुसार-मासाद्य श्री-शुभचंद्राचार्य-देव विरचितं ॥

॥ श्रोतार: सावधान-तया शृणवन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

ज्ञानलक्ष्मी घनाश्लेषप्रभवानन्दनन्दितम्
निष्ठितार्थमजं नौमि परमात्मानमव्ययम् ॥1॥

अन्वयार्थ : ज्ञानरूपी लक्ष्मी के दृढ़ आश्लेष से उत्पन्न हुए आनन्द से जो नंदित है, निराकुल है, समृद्ध है, कृतकृत्य है, अजन्मा है, अविनाशी है–ऐसे परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ ।

भुवनाम्भोजमार्तण्डं धर्मामृतपयोधरम्
योगिकल्पतरुं नौमि देवदेवं वृषध्वजम् ॥2॥

अन्वयार्थ : मैं (शुभचन्द्राचार्य) वृषध्वज कहिये वृष का है ध्वज अर्थात् चिह्न जिसका, अथवा वृष कहिये धर्म की ध्वजास्वरूप श्री ऋषभदेव आदि तीर्थंकर को नमस्कार करता हूँ । कैसा
है ऋषभदेव ? देवदेव कहिये चार प्रकार के देवों का देव है । इस विशेषण से समस्त देवों के द्वारा पूज्यता दिखाई । फिर कैसा है ? भुवन कहिये लोकरूपी कमल को प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य समान है । इस विशेषण से, भगवान के गर्भ-जन्म-कल्याणक में अनेक अतिशय चमत्कार हुए, उनसे लोकमें प्रचुर आनन्द प्रवर्ता ऐसा जनाया है । फिर कैसा है प्रभु ? धर्मरूपी अमृत वर्षने को मेघ के समान है । इस विशेषण से केवलज्ञान प्राप्ति के पश्चात् दिव्यध्वनि से अभ्युदय निःश्रेयस का मार्ग धर्म प्रवर्त्तना प्रगट किया है । फिर कैसा प्रभु ? योगीश्वरों

को मनोवांछित फल देने के लिये कल्पवृक्ष के समान है । इस विशेषण से योगीश्वरों को मोक्षमार्ग के साधनेवाले
ध्यान की वांछा होती है, सो उनको यथार्थ ध्यान का मार्ग बतानेवाला है, **अर्थ**ात् जो ध्यान हम करते हैं, वही तुम करो, इस प्रकार परंपरा से ध्यान का मार्ग जानकार योगीश्वरण अपनी वांछा को पूर्ण कराते हैं, ऐसा आशय जनाया है ॥2॥

भवज्वलनसंभ्रान्तसत्त्वशांतिसुधार्णव: ।
देवश्चन्द्रप्रभ: पुष्यात् ज्ञानरत्नाकरश्रियम् ॥3॥

अन्वयार्थ : संसाररूप अग्नि में भ्रमते हुए जीवों को अमृत के समुद्र के समान चन्द्रप्रभदेव हैं सो ज्ञानरूप समुद्र की लक्ष्मी को पुष्ट करें ।

सत्संयमपय: पूरवित्रिजगत्त्रयम् ।
शान्तिनाथं नमस्यामि विश्वविघ्नौघशान्तये ॥4॥

अन्वयार्थ : सम्यक-चारित्ररूप जल के प्रवाह से तीनों जगत को पवित्र किया है जिनने ऐसे श्री शान्तिनाथ तीर्थकर भगवान् को मैं समस्त विघ्न-समूह की शान्ति के लिये नमस्कार करता हूँ ।

श्रियं सकलकल्याणकुमुदाकरचन्द्रमा: ।
देव: श्रीवर्द्धमानाख्य: क्रियाद्भव्याभिनन्दिताम् ॥5॥

अन्वयार्थ : समस्त प्रकार के कल्याणरूपी चंद्रवंशी कमल-समूह को प्रफुल्लित करने के लिये चंद्रमा के समान श्री वर्द्धमान नामा अन्तिम तीर्थकर देव हैं, सो भव्य पुरुषों द्वारा प्रशंसित और इच्छित लक्ष्मी को करो ।

श्रुतस्कन्धनभश्चन्द्रं संयमश्रीविशेषकम् ।
इन्द्रभूतिं नमस्यामि योगीन्द्रं ध्यानसिद्धये ॥6॥

अन्वयार्थ : श्रुतस्कन्ध (द्वादशांगरूप शास्त्र) रुपी आकाश में प्रकाश करने के अर्थ चन्द्रमा के समान, संयमरूपी लक्ष्मी को विशेष करनेवाले, योगियों में इन्द्र के समान इन्द्रभूति (श्री गौतमनामक गणधर भगवान) को ध्यान की सिद्धि के अर्थ नमस्कार करता हूँ ।

प्रशान्तमतिगम्भीरं विश्वविद्याकुलगृहम् ।
भव्यैकशरणं जीयाच्छ्रीमत्सर्वज्ञशासनम् ॥7॥

अन्वयार्थ : व्याकरण, न्याय, छन्द, अलंकार, साहित्य, यंत्र, मंत्र, तंत्र, ज्योतिष, वैद्यक, निमित्त और मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति आदि विद्याओं के वसने का कुलगृह, भव्यजीवों को एकमात्र अद्वितीय शरण, प्रशान्त, समस्त आकुलता और क्षोभ का मिटानेवाला, अति गम्भीर, मन्दबुद्धि प्राणी जिसकी थाह नहीं पा सकते ऐसे श्रीमत् (निर्बाध लक्ष्मी सहित) जो सर्वज्ञ का शासन (आज्ञामत) है, सो जयवंत प्रवर्तो ।

प्रबोधाय विवेकाय हिताय प्रशमाय च ।
सम्यक्तत्त्वोपदेशाय सतां सूक्ति: प्रवर्त्तते ॥8॥

अन्वयार्थ : सत्पुरुषों की उत्तम वाणी जीवों के प्रकृष्ठ-ज्ञान, विवेक, हित, प्रशमता और सम्यक् प्रकार से तत्त्व के उपदेश देने के अर्थ प्रवर्त्तती है ।

तच्छ्रुतं तच्च विज्ञानं तद्ध्यानं तत्परं तपः ।
अयमात्मा यदासाद्य स्वस्वरूपे लयं व्रजेत् ॥9॥

अन्वयार्थ : वही शास्त्र का सुनना है, वही चतुराईरूप भेद-विज्ञान है, वही ध्यान वा तप है, जिसको प्राप्त होकर यह आत्मा अपने स्वरूप में लवलीन होता है ।

दुरन्तदुरिताक्रान्तं नि:सारमतिवंचकम् ।
जन्म विज्ञाय कः स्वार्थे मुह्यत्यंगी सचेतन: ॥10॥

अन्वयार्थ : दुःखकर है अंत जिसका, दुरित (पाप) से व्याप्त, ठग (ठग के समान किंचित्सुख का लालच बताकर सर्वस्व हर लेने वाला), निगोद-वास कराने वाले जन्म को संसार के स्वरूप को जानने वाले ज्ञान-सहित प्राणियों में ऐसा कौन है, जो अपने हितरूप प्रयोजन में मोह को प्राप्त हो ?

अविद्याप्रसरोद्भूतग्रहनिग्रहकोविदम् ।

ज्ञानार्णवमिमं वक्ष्ये सतामानन्दमन्दिरम् ॥11॥
अन्वयार्थ : मैं, अविद्या के प्रसार (फैलाव) से उत्पन्न हुए आग्रह (हठ) तथा पिशाच को निग्रह करने में प्रवीण तथा सत्पुरुषों के लिये आनंद का मंदिर, इस ज्ञानार्णव नाम के ग्रंथ को कहूँगा ।
अपि तीर्येत बाहुभ्यामपारो मकरालय: ।
न पुनः शक्यते वक्तुं मद्विधैर्योगिरंजकम् ॥12॥
महामतिभिर्नि: शेषसिद्धान्तपथपारगै: ।
क्रियते यत्र दिग्मोहस्तत्र कोऽन्य: प्रसर्पति ॥13॥
अन्वयार्थ : मकरालय (अपार समुद्र) है, तो भी अनेक समर्थ पुरुष उसे भुजाओं से तैर सकते हैं, परन्तु यह ज्ञानार्णव योगियों कों रंजायमान करनेवाला अथाह है, सो हम जैसों से नहीं तरा जा सकता ।
जहाँ बड़ी बुद्धिवाले समस्त सिद्धान्त मार्ग के पार करनेवाले भी दिशा भूल जाते हैं, वहाँ अन्य जन किस प्रकार पार पा सकते हैं ?
समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मय: ।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जना: ॥14॥
अन्वयार्थ : जहाँ समन्तभद्रादिक कवीन्द्ररूपी सूर्यों की निर्मल उत्तम वचनरूप किरणें फैलती हैं, वहाँ ज्ञानलव से उद्धत पटबीज (जुगनू) के समान मनुष्य क्या हास्यता को प्राप्त नहीं होंगे ?
अपाकुर्वन्ति यद्वाच: कायवाक्चित्तसम्भवम् ।
कलंकमंगिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥15॥
अन्वयार्थ : जिनके वचन जीवों के काय-वचन-मन से उत्पन्न होनेवाले मलों को नष्ट करते हैं, ऐसे देवनन्दी नामक मुनीश्वर (पूज्यपादस्वामी) को हम नमस्कार करते हैं ।
जयन्ति जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिता: ।
योगिभिर्यत्समासाद्य स्खलितं नात्मनिश्चये ॥16॥
अन्वयार्थ : जिनसेन आचार्य महाराज के वचन जयवन्त हैं । क्योंकि योगीश्वर उनके वचनों को प्राप्त होकर आत्मा के निश्चय में स्खलित नहीं होते (यथार्थ निश्चय कर लेते हैं) । तथा उनके वचन न्याय, व्याकरण और सिद्धान्त इन तीन विद्याओं के द्वारा वंदनीय हैं ।
श्रीमद्भट्टाकलंकस्य पातु पुण्या सरस्वती ।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥17॥
अन्वयार्थ : अनेकान्त स्याद्वादरूपी आकाश में चन्द्रमा की रेखा-समान आचरण करने वाली, श्रीमत् (शोभायमान निर्दोष) भट्टाकलंक नामा आचार्य की पवित्र वाणी हमको पवित्र करो और हमारी रक्षा करो ।
भवप्रभवदुर्वारक्लेशसन्तापपीडितम् ।
योजयाम्यहमात्मानं पथि योगीन्द्रसेविते ॥18॥
अन्वयार्थ : इस ग्रंथके रचने से संसार में जन्म ग्रहण करने से उत्पन्न हुए दुर्निवार क्लेशों के संताप से पीड़ित मैं अपने आत्मा को योगीश्वरों से सेवित ज्ञान-ध्यानरूपी मार्ग में जोड़ता हूँ ।
न कवित्वाभिमानेन न कीर्तिप्रसरेच्छया ।
कृति: किन्तु मदीयेयं स्वबोधायैव केवलम् ॥19॥
अन्वयार्थ : यहाँ ग्रंथरूपी मेरी कृति (कार्य) है, सो केवलमात्र अपने ज्ञान की वृद्धि के लिए है । कविता के अभिमान से तथा जगत में कीर्ति होने के अभिप्राय से नहीं की जाती है ।
अयं जागर्ति मोक्षाय वेत्ति विद्यां भ्रमं त्यजेत् ।
आदत्ते शमसाम्राज्यं स्वतत्त्वाभिमुखीकृत: ॥20॥
न हि केनाप्युपायेन जन्मजातंकसंभवा ।

विषयेषु महातृष्णा पश्य पुंसां प्रशाम्यति ॥21॥
तस्या: प्रशान्तये पृज्यै: प्रतीकार: प्रदर्शित: ।
जगज्जन्तूपकाराय तस्मिन्नस्यावधीरणा ॥22॥
अनुद्विग्नैस्तथाप्यस्य स्वरूपं बन्धमोक्षयो: ।
कीर्त्यते येन निर्वेदपदवीमधिरोहति ॥23॥
निरूप्य सच्च कोऽप्युच्चैरुपदेशोऽस्य दीयते ।
येनादत्ते परां शुद्धिं तथा त्यजयति दुर्मतिम् ॥24॥

अन्वयार्थ : सत्पुरुष ऐसा विचारते हैं कि, यह प्राणी अपना निज-स्वरूप तत्त्व के सन्मुख करने से मोक्ष के अर्थ जागता है । मोह-निद्रा को छोड़कर सम्यग्ज्ञान को जानता है । तथा भ्रम (अनादि-अविद्या) को छोड़कर उपशमभावरूपी (मन्दकषायरूपी) साम्राज्य को ग्रहण करता है ।

और देखो कि, पुरुषों की विषयों में महा-तृष्णा है । वह तृष्णा कैसी है ? जन्म से (संसार से) उत्पन्न हुए आतंक (दाहरोग) से वह उपजी है, सो किसी भी उपाय से नष्ट नहीं होती ।

उस तृष्णा की प्रशान्ति के **अर्थ** पूज्य पुरुषों ने प्रतीकार (उपाय) दिखाया है, और वह जगत के जीवों के उपकारार्थ ही दिखाया है । किन्तु यह जीव उस प्रतीकार की अवज्ञा (अनादर) करता है ।

तथापि उद्वेग-रहित पूज्य-पुरुषों के द्वारा इस प्राणी के हितार्थ बन्ध-मोक्ष का स्वरूप वर्णन किया जाता है, जिससे यह प्राणी वैराग्य-पदवी को प्राप्त
हो ।

इस कारण कोई अतिशय समीचीन उपदेश विचार करके इस प्राणी को देना चाहिये, जिससे यह प्राणी उत्कृष्ट शुद्धता को ग्रहण करे और दुर्बद्धि को छोड़ दे।

अहो सति जगत्पूज्ये लोकद्वयविशुद्धिदे ।
ज्ञानशास्त्रे सुधी: कः स्वमसच्छास्त्रैर्विडम्बपयेत् ॥25॥

अन्वयार्थ : अहो ! जगत्पूज्य और लोक-परलोक में विशुद्धि के देनेवाले समीचीन ज्ञान-शास्त्रों के होते हुए भी ऐसा कौन सुबुद्धि है, जो मिथ्या-शास्त्रों के द्वारा अपने आत्मा को विडंबनारूप करे ।

असच्छास्त्रप्रणेतार: प्रज्ञालवमदोद्धता: ।
सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे कवय: स्वान्यवञ्चका: ॥26॥
स्वतत्त्वविमुखैर्मूढे: कीर्तिमात्रानुरञ्जितै: ।
कुशास्त्रद्मना लोको वराको व्याकुलीकृत: ॥27॥

अन्वयार्थ : इस पृथ्वीतल में बुद्धि के अंशमात्र से मदोन्मत्त होकर असत् शास्त्रों के रचनेवाले अनेक कवि हैं । वे केवल अपनी आत्मा तथा अन्य भोले-जीवों को ठगनेवाले ही है ।

तथा आत्म-तत्त्व से विमुख, अपनी कीर्ति से प्रसन्न होनेवाले मूढ़ हैं । और उन्हीं मूढों ने इस अज्ञानी जगत को अपने बनाये हुए मिथ्या-शास्त्रों के बहाने से व्याकुलित कर दिया है ।

अधीतैर्वाश्रुतैर्ज्ञातै: कुशास्त्रै: किं प्रयोजनम् ।
यैर्मन: क्षिप्यते क्षिप्रं दुरन्ते मोहसागरे ॥28॥

अन्वयार्थ : उन शास्त्रों के पढ़ने, सुनने व जानने से क्या प्रयोजन (लाभ) है, जिनसे जीवों का चित्त (मन) दुरन्तर तथा दुर्निवार मोह समुद्र में पड़ जाता है ।

क्षणं कर्णामृतं सूते कार्यशुन्यं सतामपि ।
कुशास्त्रं तनुते पश्चादविद्यागरविक्रियाम् ॥29॥

अन्वयार्थ : कुशास्त्र यद्यपि सुनने में क्षणभर के लिए अमृत की-सी वर्षा करता है, परन्तु कालान्तर में वह सत्पुरुषों के कार्य से रहित अविद्यारूपी विष के विकार (विषयों की तृष्णा) को बढ़ाता है ।

अज्ञानजनितश्चित्रं न विद्म: कोऽप्ययं ग्रह: ।
उपदेशशतेनापि य: पुंसामपसर्प्पति ॥30॥

अन्वयार्थ : यह बड़ा आश्चर्य है, जो जीवों का अज्ञान से उत्पन्न हुआ यह आग्रह (हठ) सैकड़ों उपदेश देने पर भी दूर नहीं होता । हम नहीं जानते कि, इसमें क्या भेद है ।

सम्यग्निरूप्य सद्वृतैविद्वद्भिर्वीतमत्सरै: ।
अत्र मृग्या गुणा दोषा: समाधाय मन: क्षणम् ॥31॥

अन्वयार्थ : ऐसे सदाचारी पुरुष जिन्हें मत्सर (द्वेष / इर्ष्या) नहीं है, उन्हें उचित है कि इस शास्त्र तथा प्रवृत्ति में मन को समाधान करके गुण-दोष को भले प्रकार विचारें ।

स्वसिद्ध्यर्थ प्रवृत्तानां सतामपि च दुर्धिय: ।
द्वेषबुद्ध्या प्रवर्त्तन्ते केचिज्जगति जन्तवः ॥32॥

अन्वयार्थ : इस जगत में अनेक दुर्बद्धि ऐसे हैं, जो अपनी सिद्धि के अर्थ प्रवृत्त हुए सत्पुरुषों पर द्वेष-बुद्धि का व्यवहार करते हैं ।

साक्षाद्वस्तुविचारेषु निकषग्रावसन्निभा: ।
विभजन्ति गुणान्दोषान्धन्या: स्वच्छेन चेतसा ॥33॥

अन्वयार्थ : वे धन्य पुरुष हैं जो अपने निष्पक्ष-चित्त से वस्तु के विचार में कसौटी के समान हैं और गुण-दोषों को भिन्न-भिन्न जान लेते हैं ।

प्रसादयति शीतांशु: पीडयत्यं शुभाञ्जज्जगत् ।
निसर्गजनिता मन्ये गुणदोषा: शरीरिणाम् ॥34॥

अन्वयार्थ : देखो चन्द्रमा जगत को प्रसन्न करता है और ताप को नष्ट करता है । एवं सूर्य पीड़ित करता है, (ताप को उत्पन्न करता है) । इसी प्रकार जीवों के गुण-दोष स्वभाव से ही हुआ करते हैं, ऐसा मैं मानता हूँ ।

दूषयन्ति दुराचारा निर्दोषामपि भारतीम् ।
विधुबिम्बश्रियं कोका: सुधारसमयीमिव ॥35॥

अन्वयार्थ : जो दुष्ट पुरुष हैं वे निर्दोष-वाणी को भी दूषण लगाते हैं । जैसे सुधारसमयी चन्द्रमा के बिम्ब की शोभा को चक्रवाक दूषण देते हैं कि, चन्द्रमा ही चकवी से हमारा विछोह (वियोग) करा देता है ।

अयमात्मा महामोहकलंकी येन शुद्ध्यति ।
तदेव स्वहितं धाम तच्च ज्योति: परं मतम् ॥36॥

अन्वयार्थ : यह आत्मा महामोह से (मिथ्यात्व कषाय से) कलंकी और मलिन है, अतः जिससे यह शुद्ध हो, वही अपना हित है, वही अपना घर है और वही परम ज्योति (प्रकाश) है ।

विलोकय भुवनं भीमयमभोगीन्द्रशंकितम् ।
अविद्याव्रजमुत्सृज्य धन्या ध्याने लयं गता: ॥37॥

अन्वयार्थ : इस जगत को भयानक कालरूपी सर्प से शंकित देखकर अविद्याव्रज (मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरण के समूह को छोड़) निज-स्वरूप के ध्यान में लवलीन हो जाते हैं, वे धन्य (महा-भाग्यवान) पुरुष हैं ।

हृषीकराक्षसाक्रान्तं स्मरशार्दूलचर्वितम् ।
दुःखार्णवगतं विश्वं विवेच्य विरतं बुधै: ॥38॥

अन्वयार्थ : जो बुद्धिमान हैं, उन्होंने इस जगत को इन्द्रियरूपी राक्षसों से व्याप्त तथा कामरूपी सिंह से चर्वित और दुःखरूपी समुद्र में डूबा हुआ समझकर छोड़ दिया ।

जन्मजातङ्कदुर्वारमहाव्यसनपीडितम् ।

जन्तुजातमिदं वीक्ष्य योगिन: प्रशमं गता: ॥39॥

अन्वयार्थ : संसार से उत्पन्न दुर्निवार आतंक (दाहरोग) रूपी महाकष्ट से पीड़ित इस जीव-समूह को देखकर ही योगीजन शान्त-भाव को प्राप्त हो गये ।

भवभ्रमणविश्रान्ते मोहनिद्रास्तचेतने ।
एक एव जगत्यस्मिन् योगी जागर्त्यहर्निशम् ॥40॥

अन्वयार्थ : संसार-भ्रमण से विश्रान्त और मोहरूपी निद्रा से जिसकी चेतना नष्ट हो गई है, ऐसे इस जगत में मुनिगण ही निरंतर जागते हैं ।

रजस्तमोभिरुद्धूत कषायविषणमूर्च्छितम् ।
विलोक्य सत्त्वसन्तानं सन्त: शान्तिमुपाश्रिता: ॥41॥

अन्वयार्थ : जो सत्पुरुष हैं, वे रजोगुण व तमोगुण से कम्पायमान तथा कषायरूपी विषय से मूर्छित इस सत्त्वसन्तान (जगत) को देखकर शान्तभाव को ग्रहण करते हैं ।

मुक्तिस्त्रीवक्त्रशीतांशुं द्रष्टुमुत्कण्ठिताशयै: ।
मुनिभिर्मथ्यते साक्षाद्विज्ञानमकरालय: ॥42॥
उपर्युपरिसंभूतदु:खवह्निक्षतं जगत् ।
वीक्ष्य सन्त: परिप्राप्ता: ज्ञानवारिनिधेस्तटम् ॥43॥

अन्वयार्थ : मुक्तिरूपी स्त्री के मुखरूपी चन्द्रमा के देखने को उत्सुक हुए मुनिजन साक्षात्त विज्ञानरूपी समुद्र का मंथन करते हैं ।

बारंबार उत्पन्न हुई दुःखाग्नि से क्षय होते जगत को देखकर सन्त-पुरुष ज्ञानरूपी समुद्र के तट पर प्राप्त हुए हैं ।

अनादिकालसंलग्ना दुस्त्यजा कर्मकालिका ।
सद्यः प्रक्षीयते येन विधेयं तद्धि धीमताम् ॥44॥

अन्वयार्थ : अनादिकाल से लगी हुई कर्मरूपी कालिमा बड़े कष्ट से तजने योग्य है । इस कारण यह कालिमा जिससे शीघ्र ही नष्ट हो जाय, वही उपाय बुद्धिमानों को करना चाहिये ।

निष्कलंकं निराबाधं सानन्दं स्वस्वभावजम् ।
वदन्ति योगिनो मोक्षं विपक्षं जन्मसन्तते: ॥45॥

अन्वयार्थ : मोक्ष निःकलंक (कालिमा से रहित) है, बाधा (पीड़ा) रहित है, आनंद सहित है, अपने स्वभाव से उत्पन्न है और संसार का विपक्षी (शत्रु) है।

जीवितव्ये सुनि:सारे नृजन्मन्यतिदुर्लभे ।
प्रमादपरिहारेण विज्ञेयं स्वहितं नृणाम् ॥46॥
विचारचतुरैधीरैरत्यक्षसुखलालसै: ।
अत्र प्रमादमुत्सृज्य विधेय: परमादर: ॥47॥
न हि कालकलैकापि विवेकविकलाशयै: ।
अहो प्रज्ञाधनैर्नेया नृजन्मन्यतिदुर्लभे ॥48॥

अन्वयार्थ : मनुष्य जन्म अति दुर्लभ है । जीवितव्य है सो निःसार है । ऐसी अवस्था में मनुष्य को आलस्य त्याग के अपने हित को जानना चाहिये ।

जो धीर और विचारशील पुरुष हैं, तथा अतीन्द्रिय सुख (मोक्षसुख) की लालसा रखते हैं, उनको प्रमाद छोड़कर इस मोक्ष में ही परम आदर करना चाहिये ।

अहो भव्य जीवों ! यह मनुष्य जन्म बड़ा दुर्लभ है और इसका बारबार मिलना कठिन है, इस कारण बुद्धिमानों को चाहिये कि, विचार-शून्य हृदय होकर काल की एक कला को भी व्यर्थ नहीं जाने दें ।

भृशं दुःखज्वालानिचयनिचितं जन्मगहनम्

यदक्षाधीनं स्यात्सुखमिह तदन्तेतिविरसम् ।
अनित्या: कामार्था: क्षणरुचिचलं जीवितमिदं
विमृश्योच्चै: स्वार्थ क इह सुकृती मुह्यति जनः ॥49॥

अन्वयार्थ : यह संसार दुःखरूपी अग्नि की ज्वाला से व्याप्त बड़ा गहन वन है । इस संसार में इन्द्रियाधीन सुख है सो अन्त में विरस है, दुःख का कारण है, तथा दु:ख से मिला हुआ है । और जो काम और अर्थ हैं सो अनित्य हैं, सदैव नहीं रहते । तथा जीवित है, सो बिजली के समान चंचल है । इस प्रकार समीचीनता से विचार करनेवाले जो अपने स्वार्थ में सुकृती-पुण्यवान्-सत्पुरुष हैं, वे कैसे मोह को प्राप्त होवें ?

सङ्गै: किं न विषाद्यते वपुरिदं किं छिद्यते नामयै: ।
मृत्यु: किं न विजृम्भते प्रतिदिन द्रुह्यन्ति किं नापद: ॥
श्वभ्रा: किं न भयानका: स्वपनवद्भोगा न किं वञ्चका: ।
येन स्वार्थमपास्य किन्नरपुरप्रख्ये भवे ते स्पृहा ॥1॥

अन्वयार्थ : हे आत्मन् ! इस संसार में संग (धन-धान्य स्त्री-कुटुंबादिक के मिलापरूप जो परिग्रह) हैं, वे क्या तुझे विषादरूप नहीं करते ? तथा यह शरीर है, सो रोगों के द्वारा छिन्न रूप वा पीड़ित नहीं किया जाता है ? तथा मृत्यु क्या तुझे प्रतिदिन ग्रसने के लिए मुख नहीं फाड़ती है ? और आपदायें क्या तुझसे द्रोह नहीं करती हैं ? क्या तुझे नरक भयानक नहीं दिखते ? और ये भोग हैं सो क्या स्वप्न के समान तुझे ठगनेवाले (धोखा देनेवाले) नहीं हैं ? जिससे कि तेरे इन्द्रजाल से रचे हुए किन्नरपुर के समान इस असार संसारमें इच्छा बनी हुई है ?

नासादयसि कल्याणं न त्वं तत्त्वं समीक्षसे ।
न वेत्सि जन्मवैचित्र्यं भ्रातर्भूतैर्विडम्बित: ॥2॥

अन्वयार्थ : हे भाई ! तू भूत (इन्द्रियों के विषयों) से विडम्बनारूप होकर अपने कल्याण में नहीं लगता है और तत्त्वों (वस्तु-स्वरूप) का विचार नहीं करता है, तथा संसार की विचित्रता को नहीं जानता है; सो यह तेरी बड़ी भूल है ।

असद्विद्याविनोदेन मात्मानं मूढ वञ्चय ।
कुरु कृत्यं न किं वेंत्सि विश्ववृत्तं विनश्वरम् ॥3॥

अन्वयार्थ : हे मूढ़ प्राणी ! अनेक असत् कला चतुराई श्रंगार शास्त्रादि असद्विद्याओं के कौतूहलों से अपनी आत्मा को मत ठगो और तेरे करने योग्य जो कुछ हितकार्य हो उसे कर । क्योंकि जगत के ये समस्त प्रवर्तन विनाशीक हैं । क्या तू ये बातें नहीं जानता है ?

समत्वं भज भूतेषु निर्ममत्वं विचिन्तय ।
अपाकृत्य मनःशल्यं भावशुद्धिं समाश्रय: ॥4॥

अन्वयार्थ : हे आत्मन् ! तू समस्त जीवों को एक-सा जान । ममत्व को छोड़कर निर्ममत्व का हितोपदेश चिंतवन कर। मन की शल्य को दूर कर (किसी प्रकार की शल्य / क्लेश अपने चित्त में न रखकर) अपने भावों की शुद्धता को अंगीकार कर ।

चिनु चित्ते भृशं भव्य भावना भावशुद्धये ।
या: सिद्धान्तमहातन्त्रे देवदेवै: प्रतिष्ठिता: ॥5॥

अन्वयार्थ : हे भव्य ! तू अपने भावों की शुद्धि के अर्थ अपने चित्त में बारह भावनाओं का चिंतवन कर, जिन्हें देवाधिदेव श्री तीर्थकर भगवान ने सिद्धान्त के प्रबन्ध में प्रतिष्ठित की हैं ।

ताश्च संवेगवैराग्ययमप्रशमसिद्धये ।
आलानिता मनःस्तम्भे मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभि: ॥6॥

अन्वयार्थ : उन भावनाओं को मोक्षाभिलाषी मुनियों ने अपने में संवेग (धर्मानुराग) वैराग्य (संसार से उदासीनता) यम (महाव्रतादि चारित्र) और प्रशम की (कषायों के अभावरूप शान्त भावों की) सिद्धि के लिये अपने चित्तरूपी स्तंभ में ठहराई / बांधी है ।

अनित्याद्या: प्रशस्यन्ते द्वादशैता मुमक्षुभि: ।
या मुक्तिसौधसोपानराजयोऽत्यन्तबन्धुरा: ॥7॥

अन्वयार्थ : वे भावना अनित्य आदि द्वादश हैं । इनको मोक्षाभिलाषी मुनिगणों ने प्रशंसारूप कही हैं । क्योंकि ये सब भावनायें मोक्षरूपी महल के चढ़ने की अति उत्तम पैड़ियों (सीढ़ियों) की पंक्ति समान हैं ।

हृषीकार्थसमुत्पन्ने प्रतिक्षणविनश्वरे ।
सुखे कृत्वा रतिं मूढ विनष्टं भुवनत्रयं ॥1॥

अन्वयार्थ : हे मूढ़ ! क्षण में नाश होनेवाले इन्द्रिय-जनित सुख में प्रीति करके ये तीनों भुवन नाश को प्राप्त हो रहे हैं, सो तू क्यों नहीं देखता ?

भवाब्धिप्रभवा: सर्वे सम्बन्धा विपदास्पदम् ।
सम्भवन्ति मनुष्याणां तथान्ते सुष्ठुनीरसा: ॥2॥

अन्वयार्थ : इस संसाररूपी समुद्र में भ्रमण करने से मनुष्यों के जितने संबंध होते हैं, वे सब ही आपदाओं के घर हैं । क्योंकि अन्त में प्रायः सब ही संबंध नीरस (दुःखदायक) हो जाते हैं ।

वपुर्विद्धि रुजाक्रान्तं जराक्रान्तं च यौवनम् ।
ऐश्वर्य च विनाशान्तं मरणान्तं च जीवितम् ॥10॥

अन्वयार्थ : हे आत्मन् ! शरीर को तू रोगों से घिरा हुआ समझ और यौवन को बुढ़ापे से घिरा हुआ जान तथा ऐश्वर्य सम्पदाओं को विनाशीक और जीवन को मरणान्त जान ।

ये दृष्टिपथमायाता: पदार्था: पुण्यमूर्त्तय: ।
पूर्वाह्णे न च मध्यह्ने ते प्रयान्तीह देहिनाम् ॥11॥

अन्वयार्थ : इस संसार में जिनके यहाँ पुण्य के मूर्तिस्वरूप उत्तमोत्तम पदार्थ प्रभात के समय दृष्टिगोचर होते थे, वे मध्याह्न काल में देखनेमें नहीं आते (नष्ट हो जाते हैं) । तू विचारपूर्वक देख ।

यज्जन्मनि सुखं मूढ ! यच्च दुःखं पुरःस्थितम् ।
तयोर्दुखमनन्तं स्यात्तुलायां कल्प्यमानयो: ॥12॥

अन्वयार्थ : हे मूढ़ प्राणी ! इस संसार में तेरे सम्मुख जो कुछ सुख वा दुःख है, उन दोनों को ज्ञानरूपी तुला (तराजू) में चढ़ाकर तोलेगा, तो सुख से दुःख ही अनन्तगुणा दिख पड़ेगा, क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है ।

भोगा भुजङ्गभोगाभा: सद्यः प्राणापहारिण: ।
सेव्यमाना: प्रजायन्ते संसारे त्रिदशैरपि ॥13॥

अन्वयार्थ : इस संसार में भोग सर्प के फण समान हैं, क्योंकि इनको सेवन करते हुए देव भी शीघ्र प्राणान्त हो जाते हैं ।

वस्तुजातमिदं मूढ प्रतिक्षणविनश्वरम् ।
जानन्नपि न जानासि ग्रह: कोऽयमनौषध: ॥14॥

अन्वयार्थ : हे मूढ़ प्राणी ! यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि इस संसार में जो वस्तुओं का समूह है सो पर्यायों से क्षण-क्षण में नाश होनेवाला है । इस बात को तू जानकर भी अनजान हो रहा है, यह तेरा क्या आग्रह (हठ) है ? क्या तुझ पर कोई पिशाच चढ़ गया है, जिसकी औषधि ही नहीं है ?

क्षणिकत्वं वदन्त्यार्या घटीघातेन भूभृताम् ।
क्रियतामात्मन: श्रेयो गतेयं नागमिष्यति ॥15॥

अन्वयार्थ : इस लोक में राजाओं के यहाँ जो घड़ी का घंटा बजता है और शब्द करता है, सो सबके क्षणिकपन को प्रकट करता है; अर्थात् जगत को मानों पुकार कर कहता है कि, हे जगत के जीवों ! जो कुछ अपना कल्याण करना चाहते हो, सो शीघ्र ही कर डालो नहीं तो पछताओगे । क्योंकि यह जो घड़ी बीत गई, वह किसी प्रकार भी पुनर्वर लौटकर नहीं आयेगी । इसी प्रकार अगली घड़ी भी जो व्यर्थ ही खो दोगे तो वह भी गई हुई नहीं लौटेगी ।

यद्यपूर्वं शरीरं स्याद्यदि वात्यन्तशाश्वतम् ।

युज्यते हि तदा कर्तुमस्यार्थे कर्म निन्दितम् ॥16॥

अन्वयार्थ : हे प्राणी ! यदि यह शरीर अपूर्व हो, (पूर्व में कभी तूने नहीं पाया हो), अथवा अत्यंत अविनश्वर हो, तब तो इसके अर्थ निंद्य कार्य करना योग्य भी है, परन्तु ऐसा नहीं है । तो फिर ऐसे शरीर के अर्थ निंद्य कार्य करना कदापि उचित नहीं है ।

अवश्यं यान्ति यास्यन्ति पुत्रस्त्रीधनबान्धवा: ।

शरीराणि तदेतेषां कृते किं खिद्यते वृथा ॥17॥

अन्वयार्थ : पुत्र, स्त्री, बांधव, धन, शरीरादि चले जाते हैं और जो हैं, वह भी अवश्य चले जायेंगे । फिर इनके कार्य-साधन के लिये यह जीव वृथा ही क्यों खेद करता है ?

नायाता नैव यास्यन्ति केनापि सह योषित: ।

तथाप्यज्ञा: कृते तासां प्रविशन्ति रसातलम् ॥18॥

अन्वयार्थ : इस संसार में स्त्रियाँ न तो किसी के साथ आई और न किसी के साथ जायेंगी, तथापि मूढ़जन इनके लिये निन्द्य कार्य करके नरकादिक में प्रवेश करते हैं। यह बड़ा अज्ञान है ।

ये जाता रिपवः पूर्व जन्मन्यस्मिन्विधेर्वशात् ।

त एव तव वर्त्तन्ते बान्धवा बद्धसौहृद: ॥19॥

रिपुत्वेन समापन्ना: प्राक्तनास्तेऽत्र जन्मनि ।

बान्धवा: क्रोधरुद्धाक्षा दृश्यन्ते हन्तुमुद्यता: ॥20॥

अन्वयार्थ : हे आत्मन् ! जो पूर्व-जन्म में तेरे शत्रु थे, वे ही इस जन्म में तेरे अति स्नेही होकर बंधु हो गये हैं, अर्थात् तू इनको हितू (मित्र) समझता है, परन्तु ये तेरे

हितू (मित्र) नहीं हैं, किन्तु पूर्व-जन्म के शत्रु हैं ।

और जो पूर्व-जन्म में तेरे बांधव थे, वे ही इस जन्म में शत्रुता को प्राप्त होकर तथा क्रोध-युक्त लाल-नेत्र करके तुझे मारने के लिये उद्यत हुए हैं । यह प्रत्यक्ष में देखा जाता है ।

अङ्गनादिमहापाशैरतिगाढं नियन्त्रिता: ।

पतन्त्यन्धमहाकूपे भवाख्ये भविनोऽध्वगा: ॥21॥

अन्वयार्थ : इस संसार में निरंतर फिरनेवाले प्राणीरूपी पथिक स्त्री आदि के बड़े-बड़े रस्सों से अतिशय कसे हुए संसार नामक महान्ध-कूप में गिरते हैं ।

पातयन्ति भवावर्त्ते ये त्वां ते नैव बान्धवा: ।

बन्धुतां ते करिष्यन्ति हितमुद्दिश्य योगिन: ॥22॥

अन्वयार्थ : देखो ! आत्मन् ! जो तुझे संसार के चक्र में डालते हैं, वे तेरे बांधव (हितैषी) नहीं हैं, किन्तु जो मुनिगण (गुरुमहाराज) तेरे हित की वांछा करके बंधुता करते हैं, (हित का उपदेश करते हैं, स्वर्ग तथा मोक्षका मार्ग बताते हैं), वे ही वास्तव में तेरे सच्चे और परम मित्र हैं ।

शरीरं शीर्यते नाशा गलत्यायुर्न पापधी: ।

मोह: स्फुरति नात्मार्थ: पश्य वृत्तं शरीरिणाम् ॥23॥

अन्वयार्थ : देखो ! इन जीवों का प्रवर्तन कैसा आश्चर्यकारक है कि, शरीर तो प्रतिदिन छीजता जाता है और आशा नहीं छीजती है; किन्तु बढ़ती जाती है । तथा आयुबल तो घटता जाता है और पाप-कार्यों मे बुद्धि बढ़ती जाती है । मोह तो नित्य स्फुरायमान होता है और यह प्राणी अपने हित (कल्याण) मार्ग में नहीं लगता है । सो यह कैसा अज्ञान का माहात्म्य है !

यास्यन्ति निर्दया नूनं यद्दत्वा दाहमूर्जितम् ।

हृदि पुंसां कथं ते स्युतस्तव प्रीत्यै परिग्रहा: ॥24॥

अन्वयार्थ : हे आत्मन् ! यह परिग्रह पुरुषों के हृदय में अतिशय दाह (संताप) देकर अवश्य ही चले जाते हैं । ऐसे ये परिग्रह तेरी प्रीति करने योग्य कैसे हो सकते हैं ?

अविद्यारागदुर्वारप्रसरान्धीकृतात्मनाम् ।
श्वभ्रादौ देहिनां नूनं सौढव्या सुचिरं व्यथा ॥25॥
अन्वयार्थ : मिथ्याज्ञान-जनित रागों के दुनिर्वार विस्तार से अंधे किये हुए जीवों को अवश्य ही नरकादि में बहुत काल पर्यन्त दुःख सहने पड़ेंगे, जिसका जीवों को चेत ही नहीं है ।
वह्निं विशति शीतार्थं जीवितार्थं पिबेद्विषम् ।
विषयेष्वपि यः सौख्यमन्वेषयति मुग्धधी: ॥26॥
अन्वयार्थ : जो मूढ़धी पंचेन्द्रियों के विषय सेवन में सुख ढूंढते हैं, वे मानो शीतलता के लिए अग्नि में प्रवेश करते हैं और दीर्घ जीवन के लिए विषपान करते हैं । उन्हें उस विपरीत बुद्धि से सुख के स्थान में दुःख ही होगा ।
कुते येषां त्वया कर्म कृतं श्वभ्रादिसाधकम् ।
त्वामेव यान्ति ते पापा वञ्चयित्वा यथायथम् ॥27॥
अन्वयार्थ : हे आत्मन् ! निज कुटुंबादिक के लिए तूने नरकादिक के दुःख देनेवाले पापकर्म किये, वे पापी तुझे अवश्य ही धोखा देकर अपनी-अपनी गति को चले जाते हैं । उनके लिये तूने जो पापकर्म किये थे, उनके फल तुझे अकेले ही भोगने पड़ेंगे ।
अनेन नृशरीरेण यल्लोकद्वयशुद्धिदम् ।
विवेच्य तदनुष्ठेयं हेयं कर्म ततोऽन्यथा ॥28॥
अन्वयार्थ : इसलिये प्राणी को चाहिए कि, इस मनुष्य देह से उभय लोक में शुद्धता को देनेवाले कार्य का विचार करके अनुष्ठान करे और उससे भिन्न अन्य सब कार्य छोड़ दे ।
वर्द्धयन्ति स्वधाताय ते नूनं विषपादपम् ।
नरत्वेऽपि न कुर्वन्ति ये विवेच्यात्मनो हितम् ॥29॥
अन्वयार्थ : जिसमें समस्त प्रकार के विचार करने की सामर्थ्य है, तथा जिसका पाना दुर्लभ है ऐसे मनुष्य-जन्म को पाकर भी जो अपना हित नहीं करते, वे अपने घात करने के लिये विष-वृक्ष को बढ़ाते हैं ।
यद्वद्देशान्तरादेत्य वसन्ति विहगा नगे ।
तथा जन्मान्तरान्मूढ प्राणिन: कुलपादपे ॥30॥
अन्वयार्थ : जैसे पक्षी नाना देशों से आ-आकर संध्या के समय वृक्षों पर बसते हैं, वैसे ही ये प्राणीजन अन्यान्य जन्मों से आ-आकर कुलरूपी वृक्षों पर बसते (जन्म लेते) हैं ।
प्रातस्तरुं परित्यज्य यथैते यान्ति पत्रिण: ।
स्वकर्मवशगा: शश्वत्तथैते क्वापि देहिन: ॥31॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार वे पक्षी प्रभात के समय उस वृक्ष को छोड़कर अपना-अपना रास्ता लेते हैं, उस ही प्रकार यह प्राणी भी आयु पूर्ण होने पर अपने-अपने कर्मानुसार अपनी-अपनी गति में चले जाते हैं ।
गीयते यत्र सानन्दं पूर्वाह्णे ललितं गृहे ।
तस्मिन्नेव हि मध्याह्ने सदुःखमिह रुद्यते ॥32॥
यस्य राज्याभिषेकश्री: प्रत्यूषेऽत्र विलोक्यते ।
तस्मिन्नहनि तस्यैव चिताधूमश्च दृश्यते ॥33॥
अन्वयार्थ : जिस घर में प्रभात के समय आनन्दोत्साह के साथ सुंदर-सुंदर मांगलिक गीत गाये जाते हैं, मध्याह्न के समय उसी घर में दुःख के साथ रोना सुना जाता है । तथा
प्रभात के समय जिसके राज्याभिषेक की शोभा देखी जाती है, उसी दिन उस राजा की चिता का धुआँ देखने में आता है । यह संसार की विचित्रता है ।
अत्र जन्मनि निर्वृत्तं यैः शरीरं तवाणुभि: ।

प्राक्तनान्यत्र तैरेव खण्डितानि सहस्त्रश: ॥34॥

अन्वयार्थ : हे आत्मन् ! इस संसार में जिन परमाणुओं से तेरा यह शरीर रचा गया है, उन्हीं परमाणुओं ने इस शरीर से पहिले तेरे हजारों शरीर खंड-खंड किये हैं ।

शरीरत्वं न ये प्राप्ता आहारत्वं न येऽणव: ।

भ्रमतस्ते चिरं भ्रातर्यन्न ते सन्ति तद्गृहे ॥35॥

अन्वयार्थ : हे भाई ! तेरे इस संसार में बहुत काल से भ्रमण करते हुए जो परमाणु शरीरता को तथा आहारता को प्राप्त नहीं हुए, ऐसे बचे हुए परमाणु कोई भी नहीं हैं ।

सुरोरगनरैश्वर्यं शक्रकार्मुकसन्निभम् ।

सद्यः प्रध्वंसमायाति दृश्यमानमपि स्वयम् ॥36॥

यान्त्येव न निवर्त्तन्ते सरितां यद्वदूर्मय: ।

तथा शरीरिणां पूर्वा गता नायान्ति भूतय: ॥37॥

क्वचित्सरित्तरंगाली गतापि विनिवर्त्तते ।

न रूपबललावण्यं सौन्दर्यं तु गतं नृणाम् ॥38॥

अन्वयार्थ : इस जगत में जो सुर (कल्पवासी देव), उरग (भवनवासी देव) और मनुष्यों के इन्द्र (चक्रवर्ती) के ऐश्वर्य (विभव) हैं, वे सब इन्द्रधनुष के समान हैं, अर्थात् देखने में अति-सुंदर दिख पड़ते हैं, परन्तु देखते-देखते विलय हो जाते हैं ।

जिस प्रकार नदी की जो लहरें जाती हैं, वे फिर लौटकर कभी नहीं आती हैं, इसी प्रकार जीवों की जो विभूति पहिले होती है, वह नष्ट होने के पश्चात् फिर लौटकर नहीं आती । यह प्राणी वृथा ही हर्ष-विषाद करता है ।

नदी की लहरें कदाचित् कहीं लौट भी आती हैं, परन्तु मनुष्यों का गया हुआ रूप, बल, लावण्य और सौन्दर्य फिर नहीं आता । यह प्राणी वृथा ही उनकी आशा लगाये रहता है ।

गलत्येवायुरव्यग्रं हस्तन्यस्ताम्बुवत्क्षणे ।

नलिनीदलसंक्रान्तं प्रालेयमिव यौवनम् ॥39॥

अन्वयार्थ : जीवों का आयुर्बल तो अञ्जलि के जल समान क्षण-क्षण में निरंतर झरता है और यौवन कमलिनी के पत्र पर पड़े हुए जलबिंदु के समान तत्काल ढलक जाता है ।

मनोज्ञविषयै: सार्द्धं संयोगा: स्वप्नसन्निभा: ।

क्षणादेव क्षयं यान्ति वञ्चनोद्धतबुद्धय: ॥40॥

अन्वयार्थ : जीवों के मनोज्ञ विषयों के साथ संयोग स्वप्न के समान हैं, क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं । जिनकी बुद्धि ठगने में उद्यत है, ऐसे ठगों की भाँति ये किंचित्काल चमत्कार दिखाकर फिर सर्वस्व हरनेवाले हैं ।

घनमालानुकारीणि कुलानि च बलानि च ।

राज्यालङ्कारवित्तानि कीर्त्तितानि महर्षिभि: ॥41॥

अन्वयार्थ : महर्षियों ने जीवों के कुल-कुटुंब, बल, राज्य, अलंकार, धनादिकों को मेघ-पटलों के समूह समान देखते-देखते विलुप्त होनेवाले कहे हैं । यह मूढ़ प्राणी वृथा ही नित्य की बुद्धि करता है ।

फेनपुञ्जेऽथवा रम्भास्तम्भे सार: प्रतीयते ।

शरीरे न मनुष्याणां दुर्बद्धे विद्धि वस्तुत: ॥42॥

अन्वयार्थ : हे दुर्बद्धि मूढ़ प्राणी ! वास्तव में देखा जाय, तो झागों के समूह में तथा केले के थंभ में तो कुछ सार प्रतीत होता भी है, परन्तु मनुष्यों के शरीर में तो कुछ सार नहीं है ।

यातायातानि कुर्वन्ति ग्रहचन्द्रार्कतारका: ।

ऋतवश्च शरीराणि न हि स्वप्नेऽपि देहिनाम् ॥43॥

अन्वयार्थ : इस लोक में ग्रह, चन्द्र, सूर्य, तारे तथा छह ऋतु आदि सब ही जाते और आते हैं (निरंतर गमनागमन करते रहते हैं), परन्तु जीवों के गये हुए शरीर स्वप्न में भी कभी लौटकर नहीं आते । यह प्राणी वृथा ही इनसे प्रीति करता है ।

ये जाता: सातरूपेण पुद्गला: प्राङ्गनःप्रिया: ।

पश्य पुंसां समापन्ना दुःखरूपेण तेऽधुना ॥44॥

अन्वयार्थ : हे आत्मन् ! इस जगत में पुद्गल-स्कन्ध पहिले जिन पुरुषों के मन को प्रिय और सुख के देनेवाले उपजे थे, वे ही अब दुःख के देनेवाले हो गये हैं, उन्हें देख (जगत में ऐसा कोई भी नहीं हैं जो शाश्वत सुखरूप ही रहता हो) ।

मोहाञ्जनमिवाक्षाणामिन्द्रजालोपमं जगत् ।

मुह्यत्यस्मिन्नयं लोको न विद्मः केन हेतुना ॥45॥

अन्वयार्थ : यह जगत इन्द्रजालवत् है । प्राणियों के नेत्रों की मोहनी अञ्ज्जन के समान भूलाता है और लोग इसमें मोह को प्राप्त होकर अपने को भूल जाते हैं, (लोग धोखा खाते हैं), अतः आचार्य महाराज कहते हैं कि, हम नहीं जानते ये लोग किस कारण से भूलते हैं । यह प्रबल मोह का माहात्म्य ही है ।

ये चात्र जगतीमध्ये पदार्थाश्चेतनेतरा: ।

ते ते मुनिभिरुद्दिष्टा: प्रतिक्षणविनश्वरा: ॥46॥

अन्वयार्थ : इस जगत में जो-जो चेतन और अचेतन पदार्थ हैं, उन्हें सब महर्षियों ने क्षणक्षण में नष्ट होनेवाले और विनाशीक कहे हैं । यह प्राणी इन्हें नित्यरूप मानता है, यह भ्रममात्र है ।

(मालिनी)

गगननगरकल्पं सङ्गमं वल्लभानाम् ।

जलदपटलतुल्यं यौवनं वा धनं वा ॥

सुजनसुतशरीरादीनि विद्युच्चलानि ।

क्षणिकमिति समस्तं विद्धि संसारवृत्तम् ॥47॥

अन्वयार्थ : हे प्राणी ! वल्लभा (प्यारी स्त्रियों का संगम) आकाश में देवों से रचे हुए नगर के समान है; अतः तुरंत विलुप्त हो जाता है । और तेरा यौवन वा धन मेघ-पटल के समान है, सो भी क्षण में नष्ट हो जानेवाला है । तथा स्वजन, पुत्र शरीरादिक बिजली के समान चंचल हैं । इस प्रकार इस जगत की अवस्था अनित्य जान के नित्यता की बुद्धि मत रख ।

अस्मिन्ननादिसंसारे दुरन्ते सारवर्जिते ।

नरत्वमेव दु प्राप्यं गुणोपेतं शरीरिभिः ॥245॥

हे मूढ़ दुर्बद्धि प्राणी ! तू जो किसी की शरण चाहता है, तो इस त्रिभुवन में ऐसा कोई भी शरीरी (जीव) नहीं है कि, जिसके गले में काल की फाँसी नहीं पड़ती हो ।

अन्वयार्थ : न स कोऽप्यस्ति दुर्बुद्धे शरीरी भुवनत्रये ।

यस्य कण्ठे कृतान्तस्य न पाश: प्रसरिष्यति ॥१॥

समापतति दुवरि यमकण्ठीरवक्रमे ।

त्रायते तु नहि प्राणी सोद्योगैस्त्रिदशैरपि ॥2॥

अन्वयार्थ : जब यह प्राणी दुनिर्वार कालरूपी सिंह के पाँव तले आ जाता है, तब उद्यमशील देवगण भी इसकी रक्षा नहीं कर सकते हैं; अन्य मनुष्यादिकों की तो क्या सामर्थ्य है

कि, रक्षा कर सकें ।

सुरासुरनराहीन्द्रनायकैरपि दुर्द्धरा ।

जीवलोकं क्षणार्धेन बध्नाति यमवागुरा ॥3॥

अन्वयार्थ : यह काल का जाल (फंदा) ऐसा है कि क्षण-मात्र में जीवों को फाँस लेता है और सुरेन्द्र, असुरेन्द्र, नरेन्द्र तथा नागेन्द्र भी

इसका निवारण नहीं कर सकते हैं ।
जगत्त्रयजयी वीर एक एवान्तक: क्षणे ।
इच्छामात्रेण यस्यैते पतन्ति त्रिदशेश्वरा: ॥4॥
अन्वयार्थ : यह काल तीन-जगत को जीतनेवाला अद्वितीय सुभट है, क्योंकि इसकी इच्छा-मात्र से देवों के इन्द्र भी क्षणमात्र में गिर पड़ते हैं (स्वर्गसे च्युत हो जाते हैं) फिर
अन्य की कथा ही क्या है ?
शोच्यन्ते स्वजनं मूर्खा: स्वकर्मफलभोगिनम् ।
नात्मानं बुद्धिविध्वंसा यमदंष्ट्रान्तरस्थितम् ॥5॥
अन्वयार्थ : यदि अपना कोई कुटुंबीजन अपने कर्मवशात् मरण को प्राप्त हो जाता है, तो नष्ट बुद्धि मूर्खजन उसका शोक करते हैं, परन्तु आप स्वयं यमराज की दाढ़ों में आया हुआ है, इसकी चिंता कुछ भी नहीं करता है ! यह बड़ी मूर्खता है ।
यस्मिनसंसारकान्तारे यमभोगीन्द्रसेविते ।
पुराणपुरुषा: पूर्वमनन्ता: प्रलयं गता: ॥6॥
अन्वयार्थ : कालरूप सर्प से सेवित संसाररूपी वन में पूर्वकाल में अनेक पुराण-पुरुष (शलाका-पुरुष) प्रलय को प्राप्त हो गये, उनका विचारकर शोक करना वृथा है ।
प्रतीकारशतेनापि त्रिदशैर्न निवार्यते ।
यत्रायमन्तक: पापी नृकीटैस्तत्र का कथा ॥7॥
अन्वयार्थ : जब यह पापस्वरूप यम देवताओं के सैकड़ों उपायों से भी नहीं निवारण किया जाता है, तब मनुष्यरूपी कीडे की तो बात ही क्या ?
गर्भादारभ्य नीयन्ते प्रतिक्षणमखण्डितै: ।
प्रयाणै: प्राणिनो मूढ कर्मणा यममन्दिरम् ॥8॥
अन्वयार्थ : हे मूढ़ प्राणी ! आयुनामा कर्म जीवों को गर्भावस्था से ही निरंत प्रतिक्षण अपने प्रयाणों (मंजिलों) से यम-मंदिर की तरफ ले जाता है, सो उसे देख !
यदि दृष्ट: श्रुतो वास्ति यमाज्ञावञ्चको बली ।
तमाराध्य भज स्वास्थ्यं नैव चेत्किं वृथा श्रम: ॥9॥
अन्वयार्थ : हे प्राणी ! यदि तूने किसी को यमराज की आज्ञा का लोप करनेवाला बलवान पुरुष देखा वा सुना हो, तो तू उसी की सेवा कर (उसकी शरण लेकर निश्चिन्त
हो रह), और यदि ऐसा कोई बलवान् देखा वा सुना नहीं है, तो तेरा खेद करना व्यर्थ है ।
परस्येव न जानाति विपत्तिं स्वस्य मूढधी: ।
वने सत्त्वसमाकीर्णे दह्यमाने तरुस्थवत् ॥10॥
अन्वयार्थ : ये मूढ़जन दूसरों की आई हुई आपदाओं के समान अपनी आपदाओं को इस प्रकार नहीं जानते, जैसे असंख्य जीवों से भरा हुआ वन जलता हो और वृक्ष पर बैठा
हुआ मनुष्य कहे कि 'देखो ये सब जीव जल रहे हैं, परन्तु यह नहीं जाने कि, जब यह वृक्ष जलेगा, तब मैं भी इनके समान ही जल जाऊंगा'; यह बड़ी मूर्खता है ।
यथा बालं तथा वृद्धं यथाढ्यं दुर्विध तथा ।
यथा शूरं तथा भीरुं साम्येन ग्रसतेऽन्तक: ॥11॥
अन्वयार्थ : यह काल जैसे बालक को ग्रसता है, तैसे ही वृद्ध को भी ग्रसता है और जैसे धनाढ्य पुरुष को ग्रसता है उसी प्रकार दरिद्र को भी ग्रसता है तथा जैसे शूरवीर को ग्रसता है उसी प्रकार कायर को भी ग्रसता है एवं इस प्रकार जगत के सब ही जीवों को समान भाव से

ग्रसता है किसी में भी इसका हीनाधिक विचार नहीं है, इसी कारण से इसका एक नाम समवर्त्ती भी है ॥११॥

गजाश्वरथसैन्यानि मन्त्रौषधबलानि च ।
व्यर्थीभवन्ति सर्वाणि विपक्षे देहिनां यमे ॥12॥

अन्वयार्थ : जब यह काल जीवों के विरुद्ध होता है अर्थात् जगत के जीवों को ग्रसता है तथा नष्ट करता है तब हाथी, घोड़ा, रथ, सेना, तन्त्र, मन्त्र, औषधि, पराक्रमादि सब ही व्यर्थ हो जाते हैं ।

विक्रमैकरसस्तावज्जन: सर्वोऽपि वल्गति ।
न शृणोत्यदयं यावत्कृतान्तहरिर्गिजतम् ॥13॥

अन्वयार्थ : पराक्रम ही है अद्वितीय रस जिसके, ऐसा यह मनुष्य तब तक ही उद्धत होकर दौड़ता कूदता है जब तक कि कालरूपी सिंह की गर्जना का शब्द नहीं सुनता अर्थात् 'तेरी मौत आ गई' ऐसा शब्द सुनते ही सब खेलकूद भूल जाता है ॥१३॥

अकृताभीष्टकल्याणमसिद्धारब्धवाञ्छितम् ।
प्रागेवागत्य निस्त्रिंशो हन्ति लोकं यम: क्षणे ॥14॥

अन्वयार्थ : यह काल ऐसा निर्दयी है कि जिन्होंने अपना मनोवांछित कल्याणरूप कार्य नहीं किया है और न अपने प्रारम्भ किये हुये कार्यों को पूर्ण कर पाये, ऐसे लोगों को यह सबसे पहले आकर तत्काल मार डालता है। लोगों के कार्य जैसे के तैसे अधूरे ही धरे रह जाते हैं ॥
१४॥

स्रग्धरा-भ्रूभङ्गारम्भभीतं स्खलति जगदिदं ब्रह्मलोकावसानम्
सद्यस्त्रुट्यन्ति शैलाश्चरणगुरुभराक्रान्तधात्रीवशेन।
येषां तेऽपि प्रवीरा: कतिपयदिवसै: कालराजेन सर्वे
नीता वात्रावशेषं तदपि हतधियां जीवितेऽप्युद्धताशा॥15॥

अन्वयार्थ : जिनकी भौंह के कटाक्षों के प्रारम्भ मात्र से ब्रह्मलोक पर्यन्त का यह जगत भयभीत हो जाता है तथा जिनके चरणों के गुरुभार के कारण पृथ्वी के दबने मात्र से पर्वत तत्काल खण्ड-खण्ड हो जाते हैं, ऐसे-ऐसे सुभटों को भी, जिनकी कि अब कहानी मात्र ही सुनने में आती है, इस काल ने खा लिया है। फिर यह हीनबुद्धि जीव अपने जीने की बड़ी भारी आशा रखता है, यह कैसी बड़ी भूल है ॥
१५॥

(शार्दूलविक्रीडितम्)

रुद्राशागजदेवदैत्यखचरग्राहग्रहव्यन्तरा -
दिक्पाला: प्रतिशत्रवो हरिबला व्यालेन्द्रचक्रेश्वरा: ।
ये चान्ये मरुदर्यमादिबलिन: संभूय सर्वे स्वयम्
नारब्धं यमकिङ्करै: क्षणमपि त्रातुं क्षमा देहिनम् ॥16॥

अन्वयार्थ : रुद्र, दिग्गज देव, दैत्य, विद्याधर, जलदेवता, ग्रह, व्यन्तर, दिक्पाल, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र, धरणीन्द्र, चक्रवर्ती तथा पवन देव, सूर्यादि बलिष्ठ देहधारी सब एकत्र होकर भी काल के किंकर-स्वरूप काल की कला से आरम्भ किये अर्थात् पकड़े हुए प्राणी को क्षणमात्र भी रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं ।

आरब्धा मृगबालिकेव विपिने संहारदन्तिद्विषा
पुंसां जीवकला निरेति पवनव्याजेन भीता सती ।
त्रातुं न क्षमसे यदि क्रमपदप्राप्तां वराकीमिमां
न त्वं निर्घृण लज्जसेऽत्र जनने भोगेषु रन्तुं सदा ॥17॥

अन्वयार्थ : हे मूढ़ प्राणी! जिस प्रकार वन में मृग की बालिका को सिंह पकड़ने का आरम्भ करता है और वह भयभीत होकर भागती है, उसी प्रकार जीवों के जीवन की कला कालरूपी सिंह से भयभीत होकर उच्छ्वास के बहाने से बाहर निकलती है अर्थात् भागती है और जिस प्रकार वह मृग की बालिका सिंह के पाँवों तले आ जाती है उसी प्रकार जीवों के जीवन की कला के अनुक्रम से अन्त को प्राप्त हो

जाती है अतएव तू इस निर्बल की रक्षा करने में समर्थ नहीं है और हे निर्दयी! तू इस जगत में भोगों में रमने को उद्यमी होकर प्रवृत्ति करता है और लज्जित नहीं होता, यह तेरा निर्दयीपन है क्योंकि सत्पुरुषों की ऐसी प्रवृत्ति होती है कि यदि कोई समर्थ किसी असमर्थ प्राणी को दबावे तो अपने समस्त कार्य को छोड़कर उसकी रक्षा करने का विचार करते हैं और तू काल से हनते हुए प्राणियों को देखकर भी भोगों में रमता है और सुकृत करके अपने को नहीं बचाता है, यह तेरी बड़ी निर्दयता है ॥१७॥

(स्रग्धरा)

पाताले ब्रह्मलोके सुरपतिभवने सागरान्ते वनान्ते
दिक्चक्रे शैलश्रृंगे दहनवनहिमध्वान्तवज्रासिदुर्गे ।
भूगर्भे सन्निविष्टं समदकरिघटासंकटे वा बलीयान्
कालोऽयं क्रूरकर्मा कवलयति बलाज्जीवितं देहभाजां ॥18॥

अन्वयार्थ : यह काल बड़ा बलवान और क्रूरकर्मा (दुष्ट) है। जीवों को पाताल में, ब्रह्मलोक में, इन्द्र के भवन में, समुद्र के तट, वन के पार, दिशाओं के अन्त में, पर्वत के शिखर पर, अग्नि में, जल में, हिमालय में, अंधकार में, वज्रमयी स्थान में, तलवारों के पहरे में, गढ़ कोट भूमि घर में तथा मदोन्मत्त हस्तियों के समूह इत्यादि किसी भी विकट स्थान में यत्नपूर्वक बिठाओ तो भी यह काल बलात्कारपूर्वक जीवों के जीवन को ग्रसीभूत कर लेता है। इस काल के आगे किसी का भी वश नहीं चलता ॥१८॥

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अस्मिन्नन्तकभोगिवक्त्रविवरे संहारदंष्ट्रांकिते
संसुप्तं भुवनत्रयं स्मरगरव्यापारमुग्धीकृतम् ।
प्रत्येकं गिलितोऽस्य निर्दयधिय: केनाप्युपायेन वै
नास्मान्नि:सरणं तवार्य कथमप्यत्यक्षबोधं विना ॥19॥

अन्वयार्थ : हे आर्य सत्पुरुष! अन्तसमयरूपी दाढ़ से चिह्नित कालरूप सर्प के मुखरूपी विवर में कामरूपी विष की गहलता से मूर्छित भुवनत्रय के प्राणी गाढ़ निद्रा में सो रहे हैं, उनमें से प्रत्येक को यह निर्दयबुद्धि काल निगलता जाता है परन्तु प्रत्यक्षज्ञान की प्राप्ति के बिना इस काल के पंजे से निकलने का कोई भी उपाय नहीं है अर्थात् अपने ज्ञान व स्वरूप का शरण लेने से ही इस काल से रक्षा हो सकती है। इस प्रकार अशरण भावना का वर्णन किया है ॥१९॥

(सोरठा)

जग में शरणा दोय, शुद्धातम अरु पंचगुरु ।
आन कल्पना होय, मोह उदय जियवै वृथा ॥२॥

इति अशरणभावना ॥२॥

चतुर्गतिमहावर्त्ते दु:खवाडवदीपिते ।
भ्रमन्ति भविनोऽजस्रं वराका जन्मसागरे ॥1॥

अन्वयार्थ : चार गतिरूप महा आवर्त्त (भौंरे) वाले तथा दु:खरूप वडवानल से प्रज्ज्वलित इस संसाररूपी समुद्र में जगत के दीन अनाथ प्राणी निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं ॥१॥

उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते स्वकर्मनिगडैर्वृत्ता: ।
स्थिरेतरशरीरेषु सञ्चरन्त: शरीरिण: ॥2॥

अन्वयार्थ : ये जीव अपने-अपने कर्मरूपी बेड़ियों से बंधे स्थावर और त्रस शरीरों में संचार करते हुए मरते और उपजते हैं ॥२॥

कदाचिद्देवगत्यायुर्नामकर्मोदयादिह ।
प्रभवन्त्यङ्गिन: स्वर्गे पुण्यप्राग्भारसंभृता: ॥3॥

अन्वयार्थ : कभी तो यह जीव देवगति नामकर्म और देवायुकर्म के उदय से पुण्यकर्म के समूहों से भरे स्वर्गों में देव उत्पन्न होता है ॥३॥

कल्पेषु च विमानेषु निकायेष्वितरेषु च ।

निर्विशन्ति सुखं दिव्यमासाद्य त्रिदिवश्रियम् ॥4॥

अन्वयार्थ : और वहाँ देवगति में कल्पवासियों के विमानों में तथा भवनवासी, ज्योतिषी तथा व्यन्तरदेवों में उनकी लक्ष्मी पाकर देवोपनीत सुखों को भोगता है ॥४॥

प्रच्यवन्ते तत: सद्य: प्रविशन्ति रसातलम् ।

भ्रमन्त्यनिलवद्विश्वं पतन्ति नरकोदरे ॥5॥

अन्वयार्थ : फिर उस देवगति से च्युत होकर पृथ्वीतल पर आता है और वहाँ पवन के समान जगत में भ्रमण करता है और नरकों में गिरता है ॥५॥

विडम्बयत्यसौ हन्त संसार: समयान्तरे ।

अधमोत्तमपर्यायैर्नियोज्य प्राणिनां गणम् ॥6॥

अन्वयार्थ : देखो! यह संसार जीवों के समूह को समयान्तर में ऊँची-नीची पर्यायों से जोड़कर विडम्बनारूप करता है और जीव के स्वरूप को अनेक प्रकार से बिगाड़ता है ॥६॥

स्वर्गी पतति साक्रन्दं श्वा स्वर्गमधिरोहति ।

श्रोत्रिय: सारमेय: स्यात् कृमिर्वा श्वपचोऽपि वा ॥7॥

अन्वयार्थ : अहो! देखो! स्वर्ग का देव तो रोता पुकारता स्वर्ग से नीचे गिरता है और कुत्ता स्वर्ग में जाकर देव होता है एवं श्रोत्रिय अर्थात् क्रियाकाण्ड का अधिकारी अस्पृष्ट रहने वाला ब्राह्मण मर कर कुत्ता, कृमि अथवा चाण्डाल आदि हो जाता है। इस प्रकार इस संसार की विडम्बना है ॥७॥

रूपाण्येकानि गृह्णाति त्यजत्यन्यानि सन्ततम् ।

यथा रङ्गेऽत्र शैलूषस्तथायं यन्त्रवाहक: ॥8॥

अन्वयार्थ : यह यंत्रवाहक (प्राणी) संसार में अनेक रूपों को ग्रहण करता है और अनेक रूपों को छोड़ता है। जिस प्रकार नृत्य के रंगमंच पर नृत्य करने वाला भिन्न-भिन्न स्वांगों को धरता है उसी प्रकार यह जीव निरन्तर भिन्न-भिन्न स्वांग (शरीर) धारण करता रहता है ॥८॥

सुतीव्रासातसंतप्ता: मिथ्यात्वातङ्कतकिंता: ।

पञ्चधा परिवर्त्तंते प्राणिनो जन्मदुर्गमे ॥9॥

अन्वयार्थ : इस संसाररूपी दुर्गम वन में संसारी जीव मिथ्यात्वरूपी रोग से शंकित अतिशय तीव्र असातावेदनीय से दु:खित होते हुए पाँच प्रकार के परिवर्तनों में भ्रमण करते रहते हैं ॥९॥

द्रव्यक्षेत्रे तथा कालभवभावविकल्पत: ।

संसारो दु:खसंकीर्ण: पञ्चधेति प्रपञ्चित: ॥10॥

अन्वयार्थ : द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भाव के भेद से संसार पाँच प्रकार के विस्ताररूप दु:खों से व्याप्त कहा गया है। इन पाँच प्रकार के परिवर्तनों का स्वरूप विस्तारपूर्वक अन्य ग्रन्थों से जानना ॥१०॥

सर्वै: सर्वेऽपि सम्बन्धा: संप्राप्ता देहधारिभि: ।

अनादिकालसंभ्रान्तैस्त्रसस्थावरयोनिषु ॥11॥

अन्वयार्थ : इस संसार में अनादिकाल से त्रस-स्थावर योनियों में फिरते हुए जीवों ने समस्त जीवों के साथ पिता, पुत्र, भ्राता, माता, पुत्री, स्त्री आदिक सम्बन्ध अनेक बार पाये हैं । ऐसा कोई भी जीव या सम्बन्ध बाकी नहीं रहा, जो इस जीव ने न पाया हो ॥११॥

देवलोके नृलोके च तिरश्चि नरकेऽपि च ।

न सा योनिर्न तद्रूपं न तद्देशो न तत्कुलम् ॥12॥

न तद्दु:खं सुखं किञ्चिन्न पर्याय: स विद्यते ।

यत्रैते प्राणिन: शश्वद्यातायातैर्न खण्डिता: ॥13॥

अन्वयार्थ : इस संसार में चतुर्गति में फिरते हुए जीव के वह योनि वा रूप, देश, काल तथा वह सुख, दु:ख वा पर्याय नहीं है, जो निरन्तर

गमनागमन करने से प्राप्त न हुई हो।
न के बन्धुत्वमायाता: न के जातास्तव द्विष: ।
दुरन्तागाधसंसारपङ्कमग्नस्य निर्दयम् ॥14॥
अन्वयार्थ : हे प्राणी! इस दुरन्त अगाध संसाररूपी कर्दम (कीच) में पँâसे हुए तेरे ऐसे कौन से जीव हैं जो मित्र वा निर्दयता से शत्रु नहीं हुए ? अर्थात् सब जीव तेरे शत्रु व बन्धु हो गये हैं ॥१४॥
भूप: कृमिर्भवत्यत्र कृमिश्चामरनायक: ।
शरीरी परिवर्त्तेत कर्मणा वञ्चितो बलात् ॥15॥
अन्वयार्थ : इस संसार में यह प्राणी कर्मों से बलात् वंचित हो राजा से तो मरकर कृमि (लट) हो जाता है और कृमि से मरकर क्रम से देवों का इन्द्र हो जाता है। इस प्रकार परस्पर ऊँची गति से नीची गति और नीची गति से उँची गति पलटती ही रहती है ॥१५॥
माता पुत्री स्वसा भार्या सैव संपद्यतेऽङ्गजा ।
पिता पुत्र: पुन: सोऽपि लभते पौत्रिकं पदम् ॥16॥
अन्वयार्थ : इस संसार में प्राणी की माता तो मरकर पुत्री हो जाती है और बहन मर कर स्त्री हो जाती है और फिर वही स्त्री मरकर आपकी पुत्री भी हो जाती है। इसी प्रकार पिता मर कर पुत्र हो जाता है तथा फिर वही मरकर पुत्र का पुत्र हो जाता है। इस प्रकार परिवर्तन होता ही रहता है ॥१६॥
(शार्दूलविक्रीडितम्)
श्वभ्रे शूलकुठारयन्त्रदहनक्षारक्षुरव्याहतै-
स्तिर्यक्षु श्रमदु:खपावकशिखासंभारभस्मीकृतै: ।
मानुष्येऽप्यतुलप्रयासवशगैर्देवेषु रागोद्धतै:
संसारेऽत्र दुरन्तदुर्गतिमये बम्भ्रम्यते प्राणिभि: ॥17॥
अन्वयार्थ : इस दुर्निवार दुर्गतिमय संसार में जीव निरन्तर भ्रमण करते हैं । नरकों में तो ये शूली, कुल्हाड़ी, घाणी, अग्नि, क्षार, जल, छुरा, कटारी आदि से पीड़ा को प्राप्त हुए नाना प्रकार के दु:खों को भोगते हैं और तिर्यंचगति में अग्नि की शिखा के भार से भस्मरूप खेद और दु:ख को पाते हैं तथा मनुष्यगति में भी अतुल्य खेद के वशीभूत होकर नाना प्रकार के दु:ख भोगते हैं । इसी प्रकार देवगति में रागभाव से उद्धत होकर दु:ख सहते हैं अर्थात् चारों ही गति में दु:ख ही पाते हैं, इन्हें सुख कहीं भी नहीं है। इस प्रकार संसार भावना का वर्णन किया है ॥१७॥
(दोहा)
परद्रव्यनतें प्रीति जो, है संसार अबोध ।
ताको फल गति चार में, भ्रमण कह्यो श्रुतशोध ॥३॥
महाव्यसनसंकीर्णे दु:खज्वलनदीपिते ।
एकाक्येव भ्रमत्यात्मा दुर्गे भवमरुस्थले ॥1॥
अन्वयार्थ : महाआपदाओं से भरे हुए दु:खरूपी अग्नि से प्रज्वलित और गहन ऐसे संसाररूपी मरुस्थल में (जल-वृक्षादि हीन रेतीली भूमि में) यह जीव अकेला ही भ्रमण करता है। कोई भी इसका साथी नहीं है ॥१॥
स्वयं स्वकर्मनिर्वृत्तं फलं भोक्तुं शुभाशुभम् ।
शरीरान्तरमादत्ते एक: सर्वत्र सर्वथा ॥2॥
अन्वयार्थ : इस संसार में यह आत्मा अकेला ही तो अपने पूर्व कर्मों के सुख-दु:ख रूप फल को भोगता है और सर्व प्रकार से अकेला ही समस्त गतियों में एक शरीर से दूसरे शरीर को धारण करता है ॥२॥
सङ्कल्पानन्तरोत्पन्नं दिव्यं स्वर्गसुखामृतम् ।
निर्विशत्ययमेकाकी स्वर्गश्रीरञ्जिताशय: ॥3॥

अन्वयार्थ : तथा यह आत्मा अकेला ही स्वर्ग की शोभा से रंजायमान होकर देवोपनीत संकल्प मात्र करते ही उत्पन्न होने वाले स्वर्गसुखरूपी अमृत का पान करता है अर्थात् स्वर्ग के सुख भी अकेला ही भोगता है। कोई भी इसका साथी नहीं होता है ॥३॥

संयोगे विप्रयोगे च संभवे मरणेऽथवा ।

सुखदु:खविधौ वास्य न सखान्योऽस्ति देहिन: ॥4॥

अन्वयार्थ : इस प्राणी के संयोग-वियोग में अथवा जन्म-मरण में तथा दु:ख-सुख भोगने में कोई भी मित्र साथी नहीं है, अकेला ही भोगता है ॥४॥

मित्रपुत्रकलत्रादिकृते कर्म करोत्ययम् ।

यत्तस्य फलमेकाकी भुङ्क्ते श्वभ्रादिषु स्वयम् ॥5॥

अन्वयार्थ : तथा यह जीव पुत्र, मित्र, स्त्री आदि के निमित्त जो कुछ भी बुरे-भले कार्य करता है उनका फल भी नरकादिक गतियों में स्वयं अकेला ही भोगता है। वहाँ भी कोई पुत्र-मित्रादि कर्मफल भोगने को साथी नहीं होते हैं ॥५॥

सहाया अस्य जायन्ते भोक्तुं वित्तानि केवलम् ।

न तु सोढुं स्वकर्मोत्थं निर्दयां व्यसनावलीम् ॥6॥

अन्वयार्थ : यह प्राणी बुरे-भले कार्य करके जो भी धनोपार्जन करता है, उस धन के भोगने को तो पुत्र-मित्रादि अनेक साथी हो जाते हैं परन्तु अपने कर्मों से उपार्जन किये हुए निर्दयरूप दु:खों के समूह को सहने के अर्थ कोई भी साथी नहीं होता है! यह जीव अकेला ही सब दु:खों को भोगता है ॥६॥

एकत्वं किं न पश्यन्ति जडा जन्मग्रहार्दिता: ।

यज्जन्ममृत्युसम्पाते प्रत्यक्षमनुभूयते ॥7॥

अन्वयार्थ : ये मूर्ख प्राणी संसाररूपी पिशाच से पीड़ित होते हुए भी अपनी एकता को क्यों नहीं देखते, जिसे जन्म मरण के प्राप्त होने पर सब ही जीव प्रत्यक्ष में अनुभव करते हैं ।

अज्ञातस्वस्वरूपोऽयं लुप्तबोधादिलोचन: ।

भ्रमत्यविरतं जीव एकाकी विधिवञ्चित: ॥8॥

अन्वयार्थ : यह जीव अपने अकेलेपन को नहीं देखता है इसका कारण यह है कि, ज्ञानादि नेत्रों के लुप्त होने से यह अपने स्वरूप को भले प्रकार नहीं जानता है और इसी कारण से कर्मों से ठगाया हुआ यह जीव एकाकी ही इस संसार में भ्रमण करता है।

यदैक्यं मनुते मोहादयमर्थै: स्थिरेतरै: ।

तदा स्वं स्वेन बध्नाति तद्विपक्षै: शिवीभवेत् ॥9॥

अन्वयार्थ : यह मूढ़ प्राणी जिस समय मोह के उदय से चेतन तथा अचेतन पदार्थों से अपनी एकता मानता है तब यह जीव अपने आपको अपने ही भावों से बाँधता है अर्थात् कर्मबन्ध करता है और जब यह अन्य पदार्थों से अपनी एकता नहीं मानता है तब कर्मबन्ध नहीं करता है और कर्मों की निर्जरापूर्वक परम्परा मोक्षगामी होता है। एकत्वभावना का यही फल है ॥९॥

एकाकित्वं प्रपन्नोऽस्मि यदाहं वीतविभ्रम: ।

तदैव जन्मसम्बन्ध: स्वयमेव विशीर्यते ॥10॥

अन्वयार्थ : जिस समय यह जीव भ्रमरहित हो ऐसा चिंतवन करे कि मैं एकता को प्राप्त हो गया हूँ उसी समय इस जीव का संसार का सम्बन्ध स्वयं ही नष्ट हो जाता है क्योंकि संसार का सम्बन्ध तो मोह से है और यदि मोह जाता रहे तो आप एक हैं फिर मोक्ष क्यों न पावें ?

एक: स्वर्गी भवति विबुध: स्त्रीमुखाम्भोजभृङ्ग:

एक: श्वाभ्रं पिबति कलिलं छिद्यमान: कृपाणै: ।

एक: क्रोधाद्यनलकलित: कर्म बध्नाति विद्वान्

एक: सर्वावरणविगमे ज्ञानराज्यं भुनक्ति ॥11॥

अन्वयार्थ : यह आत्मा आप एक ही देवांगना के मुखरूपी कमल की सुगन्धी लेने वाले भ्रमर के समान स्वर्ग का देव होता है और अकेला

आप ही कृपाण, छुरी, तलवारों से छिन्न-भिन्न किया हुआ नरक सम्बन्धी रुधिर को पीता है तथा अकेला आप क्रोधादि कषायरूपी अग्नि सहित होकर कर्मों को बाँधता है और अकेला ही आप विद्वान् ज्ञानी पण्डित होकर समस्त कर्मरूप आवरण के अभाव होने पर ज्ञानरूप राज्य को भोगता है ।

(दोहा)

परमारथतें आत्मा, एक रूप ही जोय ।

कर्मनिमित्त विकल्प घनें, तिनि नाशें शिव होय ॥४॥

अयमात्मा स्वभावेन शरीरादेर्विलक्षण: ।

चिदानन्दमय: शुद्धो बन्धं प्रत्येकवानपि ॥1॥

अन्वयार्थ : यह आत्मा यदि कर्मबन्ध की दृष्टि से देखा जाए तो बंधरूप वा एकरूप है और स्वभाव की दृष्टि से देखा जाए तो शरीरादिक से विलक्षण चिदानन्दमय परद्रव्य से भिन्न है, शुद्ध है ॥१॥

अचिच्चिद्रूपयोरैक्यं बन्धं प्रति न वस्तुत: ।

अनादिश्चानयो: श्र्लेष: स्वर्णकालिकयोरिव ॥2॥

अन्वयार्थ : चेतन और अचेतन के बन्धदृष्टि की अपेक्षा एकपना है और वस्तुत: देखने से दोनों भिन्न-भिन्न वस्तु हैं, एकपना नहीं है। इन दोनों का अनादिकाल से एकक्षेत्रावगाहरूप संश्लेष है-मिलाप है। जैसे सुवर्ण और कालिमा के खानि में एकपना है उसी प्रकार जीव-पुद्गलों के एकता है परन्तु वास्तव में भिन्न-भिन्न वस्तु हैं ॥२॥

इह मूर्त्तमम्-र्त्तेन चलेनात्यन्तनिश्चलम् ।

शरीरमुह्यते मोहाच्चेतनेनास्तचेतनम् ॥3॥

अन्वयार्थ : इस जगत में मोह के कारण अर्मूितक और चलने वाले जीव को यह मूर्तिक अतिनिश्चल चेतनारहित जड़ शरीर अपने साथ-साथ लगाये रहना पड़ता है।

अणुप्रचयनिष्पन्नं शरीरमिदमङ्गिनाम् ।

उपयोगात्मकोऽत्यक्ष: शरीरी ज्ञानविग्रह: ॥4॥

अन्वयार्थ : जीवों का यह शरीर पुद्गल परमाणुओं के समूह से बना है और शरीरी (आत्मा) उपयोगमयी है और अतीन्द्रिय है। यह इन्द्रियगोचर नहीं है तथा इसका ज्ञान ही शरीर है। शरीर और आत्मा में इस प्रकार अत्यन्त भेद है ॥४॥

अन्यत्वं किं न पश्यन्ति जडा जन्मग्रहार्दिता: ।

यज्जन्ममृत्युसंपाते सर्वेणापि प्रतीयते ॥5॥

अन्वयार्थ : यद्यपि उक्त प्रकार से शरीर और आत्मा के अन्यपना है तथापि संसाररूपी पिशाच से पीड़ित मूढ़ प्राणी क्यों नहीं देखते कि यह अन्यपना जन्म तथा मरण के सम्पात में सर्वलोक की प्रतीति में आता है ? अर्थात् जन्मा तब शरीर को साथ लाया नहीं, और मरता है तब यह शरीर साथ जाता नहीं है। इस प्रकार शरीर से जीव की पृथकता प्रतीत होती है ॥५॥

मूर्तैर्विचेतनैश्चित्रै: स्वतन्त्रै: परमाणुभि: ।

यद्वपुर्विहितं तेन क: सम्बन्धस्तदात्मन: ॥6॥

अन्वयार्थ : मूर्तिक चेतनारहित नाना प्रकार के स्वतन्त्र पुद्गल परमाणुओं से जो शरीर रचा गया है उससे और आत्मा से क्या सम्बन्ध है ? विचारो! इसका विचार करने से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसा प्रतिभास होगा ॥६॥

अन्यत्वमेव देहेन स्याद्भृशं यत्र देहिन: ।

तत्रैक्यं बन्धुभि: सार्धं बहिरङ्गै: कुतो भवेत् ॥7॥

अन्वयार्थ : जब उपर्युक्त प्रकार से देह से ही प्राणी के अत्यन्त भिन्नता है तब बहिरंग जो कुटुम्बादिक हैं उनसे एकता कैसे हो सकती है ? क्योंकि ये तो प्रत्यक्ष में भिन्न दीख पड़ते हैं ॥७॥

ये ये सम्बन्धमायाता: पदार्थाश्चेतनेतरा: ।

ते ते सर्वेऽपि सर्वत्र स्वस्वरूपाद्विलक्षणा: ॥8॥

अन्वयार्थ : इस जगत में जो-जो जड़ और चेतन पदार्थ इस प्राणी के सम्बन्धरूप हुए हैं, वे सब ही सर्वत्र अपने-अपने स्वरूप से विलक्षण (भिन्न-भिन्न) हैं, आत्मा सबसे अन्य है ॥८॥

पुत्रमित्रकलत्राणि वस्तूनि च धनानि च ।

सर्वथाऽन्यस्वभावानि भावय त्वं प्रतिक्षणम् ॥9॥

अन्वयार्थ : हे आत्मन्! इस जगत में पुत्र, मित्र, स्त्री आदि अन्य वस्तुओं की तू निरन्तर सर्व प्रकार से अन्य स्वभाव भावना कर, इनमें एकपने की भावना कदापि न कर, ऐसा उपदेश है ॥९॥

अन्य: कश्चिद्भवेत्पुत्र: पितान्य: कोऽपि जायते ।

अन्येन केनचित्साद्र्धं कलत्रेणानुयुज्यते ॥10॥

अन्वयार्थ : इस जगत में कोई अन्य जीव ही तो पुत्र होता है और अन्य ही पिता होता है और किसी अन्य जीव के साथ ही स्त्री सम्बन्ध होता है। इस प्रकार सब ही सम्बन्ध भिन्न-भिन्न जीवों से होते हैं ॥१०॥

त्वत्स्वरूपमतिक्रम्य पृथक्पृथग्व्यवस्थिता: ।

सर्वेऽपि सर्वथा मूढ भावास्त्रैलोक्यवर्त्तिन: ॥11॥

अन्वयार्थ : हे मूढ़ प्राणी! तीन लोकवर्ती समस्त ही पदार्थ तेरे स्वरूप से भिन्न सर्वथा पृथक्-पृथक् तिष्ठते हैं, तू उनसे अपना एकत्व न मान ॥११॥

(शार्दूलविक्रीडितम्)

मिथ्यात्वप्रतिबद्धदुर्नयपथभ्रान्तेन बाह्यानलं

भावान् स्वान् प्रतिपद्य जन्मगहने खिन्नं त्वया प्राक् चिरं ।

संप्रत्यस्तसमस्तविभ्रमभवश्चिद्रूपमेकं परम्

स्वस्थं स्वं प्रविगाह्य सिद्धिवनितावक्त्रं समालोकय ॥12॥

अन्वयार्थ : हे आत्मन् ! तू इस संसाररूपी गहन वन में मिथ्यात्व के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए सर्वथा एकान्तरूप दुर्नय के मार्ग में भ्रमरूप होता हुआ, बाह्य पदार्थों को अतिशय करके, अपने मान करके तथा अंगीकार करके, चिरकाल से सदैव खेदखिन्न हुआ और अब अस्त हुआ है समस्त विभ्रमों का भार जिसका ऐसा होकर, तू अपने आप ही में रहने वाले उत्कृष्ट चैतन्यस्वरूप को अवगाहन करके उसमें मुक्तिरूपी स्त्री के मुख को अवलोकन कर (देख) ।

(दोहा)

अपने-अपने सत्त्वकूं, सर्व वस्तु विलसाय ।

ऐसे चितवै जीव तब, परतैं ममत न धाय ॥२॥

निसर्गमलिनं निन्द्यमनेकाशुचिसम्भृतम् ।

शुक्रादिबीजसम्भूतं घृणास्पदमिदं वपु: ॥1॥

अन्वयार्थ : इस संसार में जीवों का जो शरीर है, वह प्रथम तो स्वभाव से ही मलिन रूप (मैल झरने वाला) है, निंद्य है तथा अनेक धातु-उपधातुओं से भरा हुआ है एवं शुक्र रुधिर के बीज से उत्पन्न हुआ है, इस कारण ग्लानि का स्थान है ॥१॥

असृग्मांसवसाकीर्णं शीर्णं कीकसपञ्जरम् ।

शिरानद्धं च दुर्गन्धं क्व शरीरं प्रशस्यते ॥2॥

अन्वयार्थ : यह शरीर रुधिर, माँस, चर्बी से घिरा हुआ सड़ रहा है, हाड़ों का पंजर है और शिराओं से (नसों से) बंधा हुआ दुर्गन्धमय है । इस शरीर के कौन से स्थान की प्रशंसा करें ? सर्वत्र निंद्य ही दीख पड़ता है ॥२॥

प्रस्रवन्नवभिद्वरि: पूतिगन्धान्निरन्तरम् ।

क्षणक्षयं पराधीनं शश्वन्नरकलेवरम् ॥3॥

अन्वयार्थ : यह मनुष्य का शरीर नव द्वारों से निरन्तर दुर्गन्धरूप पदार्थों से झरता रहता है तथा क्षणध्वंसी पराधीन है और नित्य अन्न पानी की सहायता चाहता है ॥३॥

कृमिजालशताकीर्णे रोगप्रचयपीडिते ।

जराजर्जरिते काये कीदृशी महतां रति: ॥4॥

अन्वयार्थ : यह शरीर लट कीड़ों के सैकड़ों समूहों से भरा हुआ रोगों के समूह से पीड़ित तथा वृद्धावस्था से जर्जरित है। ऐसे शरीर में महन्त पुरुषों की रति (प्रीति) कैसे हो ? ॥४॥

यद्यद्वस्तु शरीरेऽत्र साधुबुद्ध्या विचार्यते ।

तत्तत्सर्वं घृणां दत्ते दुर्गन्धामेध्यमंदिरे ॥5॥

अन्वयार्थ : इस शरीर में जो-जो पदार्थ हैं, सुबुद्धि से विचार करने पर वे सब घृणा के स्थान तथा दुर्गन्धमय विष्टा के घर ही प्रतीत होते हैं । इस शरीर में कोई भी पदार्थ पवित्र नहीं है ॥५॥

यदीदं शोध्यते दैवाच्छरीरं सागराम्बुभि: ।

दूषयत्यपि तान्येवं शोध्यमानमपि क्षणे ॥6॥

अन्वयार्थ : यदि इस शरीर को दैवात् समुद्र के जल से भी शुद्ध किया जाय तो उसी क्षण समुद्र के जल को भी यह अशुद्ध (मैला) कर देता है। अन्य वस्तु को अपवित्र कर दे, तो आश्चर्य ही क्या ? ॥६॥

कलेवरमिदं न स्याद्यदि चर्मावगुण्ठितम् ।

मक्षिकाकृमिकाकेभ्य: स्यात्त्रातुं कस्तदा प्रभु: ॥7॥

अन्वयार्थ : यदि यह शरीर बाहर के चमड़े से ढंका हुआ नहीं होता तो मक्खी, कृमि तथा कौओं से इसकी रक्षा करने में कोई भी समर्थ नहीं होता। ऐसे घृणास्पद शरीर को देखकर सत्पुरुष जब दूर से छोड़ देते हैं, तब इसकी रक्षा कौन करे ? ॥७॥

सर्वदैव रुजाक्रान्तं सर्वदैवाशुचेर्गृहम् ।

सर्वदा पतनप्रायं देहिनां देहपञ्जरम् ॥8॥

अन्वयार्थ : इन जीवों का देहरूपी पिनजरा सदा ही रोगों से व्याप्त, सर्वदा अशुद्धताओं का घर और सदा ही पतन होने के स्वभाव वाला है। ऐसा कभी मत समझो कि किसी काल में यह उत्तम और पवित्र होता होगा ॥८॥

तैरेव फलमेतस्य गृहीतं पुण्यकर्मभि: ।

विरज्य जन्मन: स्वार्थे यै: शरीरं कदर्थितम् ॥9॥

अन्वयार्थ : इस शरीर के प्राप्त होने का फल उन्हीं ने लिया जिन्होंने संसार से विरक्त होकर इसे अपने आत्मकल्याण के मार्ग में लगाकर पुण्य कर्मों से क्षीण किया ॥९॥

शरीरमेतदादाय त्वया दु:खं विसह्यते ।

जन्मन्यस्मिंस्ततस्तद्धि नि:शेषानर्थमन्दिरम् ॥10॥

अन्वयार्थ : हे आत्मन्! इस संसार में तूने इस शरीर को ग्रहण करके दु:ख पाये व सहे हैं इसी से तू निश्चय कर जान कि यह शरीर ही समस्त अनर्थों का घर है, इसके संसर्ग से सुख का लेश भी न मान ॥१०॥

भवोद्भवानि दु:खानि यानि यानीह देहिभि: ।

सह्यन्ते तानि तान्युच्चैर्वपुरादाय केवलम् ॥11॥

अन्वयार्थ : इस जगत में संसार से (जन्म मरण से) उत्पन्न जो-जो दु:ख जीवों को सहने पड़ते हैं वे सब केवल इस शरीर के ग्रहण से ही सहने पड़ते हैं । इस शरीर से निवृत्त (मुक्त) होने पर फिर कोई भी दु:ख नहीं है ॥११॥

(आर्या)

कर्पूरकुंकुमागुरुमृगमदहरिचन्दनादिवस्तूनि ।

भव्यान्यपि संसर्गान्मलिनयति कलेवरं नृणाम् ॥12॥

अन्वयार्थ : कर्पूर, केशर, अगर, कस्तूरी, हरिचंदनादि सुन्दर-सुन्दर पदार्थों को भी यह मनुष्यों का शरीर संसर्ग मात्र से ही अर्थात् लगाते ही अशुद्ध (मैले) कर देता है।

(मालिनी)

अजिनपटलगूढं पञ्जरं कीकसानां
कुथितकुणपगन्धै: पूरितं मूढ गाढम् ।
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं
कथमिह मनुजानां प्रीयते स्याच्छरीरम् ॥13॥

अन्वयार्थ : हे मूढ़ प्राणी! इस संसार में मनुष्यों का यह शरीर चर्म के पटलों से (परदों से) ढका हुआ हाड़ों का पिंजरा है तथा बिगड़ी हुई राध की (पीब की) दुर्गन्ध से परिपूर्ण है एवं काल के मुख में बैठे हुए रोगरूपी सर्पों का घर है। ऐसा शरीर प्रीति करने के योग्य कैसे हो सकता है ? यह बड़ा ही आश्चर्य है ॥१३॥

(दोहा)

निर्मल अपनी आतमा, देह अपावन गेह ।
जानि भव्य निजभाव को, यासों तजो सनेह ॥६॥

मनस्तनुवच:कर्म योग इत्यभिधीयते ।
स एवास्रव इत्युक्तस्तत्त्वज्ञानविशारदै: ॥1॥

अन्वयार्थ : मन-वचन-काय की क्रिया को योग कहते हैं और इस योग को ही तत्वविशारदों (ऋषियों) ने आस्रव कहा है।

वार्द्धेरन्त: समादत्ते यानपात्रं यथा जलम् ।
छिद्रैर्जीवस्तथा कर्म योगरन्ध्रै: शुभाशुभै: ॥2॥

अन्वयार्थ : जैसे समुद्र में प्राप्त हुआ जहाज छिद्रों से जल को ग्रहण करता है, उस ही प्रकार जीव शुभाशुभ योगरूप छिद्रों से (मन-वचन-काय से) शुभाशुभ कर्मों को ग्रहण करता है ॥२॥

यमप्रशमनिर्वेदतत्त्वचिन्तावलम्बितम् ।
मैत्र्यादिभावनारूढं मन: सूते शुभास्रवम् ॥3॥

अन्वयार्थ : यम (अणुव्रत-महाव्रत), प्रशम (कषायों की मंदता), निर्वेद (संसार से विरागता अथवा धर्मानुराग) तथा तत्त्वों का चिन्तवन इत्यादि का अवलंबन हो एवं मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन चारों भावों की जिस मन में भावना हो, वही मन शुभास्रव को उत्पन्न करता है ॥३॥

कषायदहनोद्दीप्तं विषयैर्व्याकुलीकृतम् ।
सञ्चिनोति मन: कर्म जन्मसम्बन्धसूचकम् ॥4॥

अन्वयार्थ : कषायरूप अग्नि से प्रज्वलित और इन्द्रियों के विषयों से व्याकुल मन संसार के सम्बन्ध के सूचक अशुभ कर्मों का संचय करता है ॥४॥

विश्वव्यापारनिर्मुक्तं श्रुतज्ञानावलम्बितम् ।
शुभास्रवाय विज्ञेयं वच: सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥5॥

अन्वयार्थ : समस्त विश्व के व्यापारों से रहित और श्रुतज्ञान के अवलम्बनयुक्त और सत्यरूप प्रामाणिक वचन शुभास्रव के लिये होते हैं ॥५॥

अपवादास्पदीभूतमसन्मार्गोपदेशकम् ।
पापास्रवाय विज्ञेयमसत्यं परुषं वच: ॥6॥

अन्वयार्थ : अपवाद (निन्दा) का स्थान, असन्मार्ग का उपदेशक, असत्य, कठोर, कानों से सुनते ही जो दूसरे के कषाय उत्पन्न कर दे और जिससे पर का बुरा हो जाए, ऐसे वचन अशुभास्रव के कारण होते हैं ॥६॥

सुगुप्तेन सुकायेन कायोत्सर्गेण वाऽनिशम् ।
सञ्चिनोति शुभं कर्मं काययोगेन संयमी ॥7॥
अन्वयार्थ : भले प्रकार गुप्त रूप किये हुए अर्थात् अपने वशीभूत किये हुए काय से तथा निरन्तर कायोत्सर्ग से संयमी मुनि शुभ कर्म को संचय (आस्रवरूप) करते हैं ॥७॥
सततारम्भयोगैश्च व्यापारैर्जन्तुघातवै: ।
शरीरं पापकर्माणि संयोजयति देहिनाम् ॥8॥
अन्वयार्थ : निरन्तर आरम्भ करने वाले और जीव घात के कार्यों से तथा व्यापारों से जीवों का शरीर (काययोग) पापकर्मों को संग्रह करता है अर्थात् काययोग से अशुभास्रव करता है ॥८॥
(शिखरणी)
कषाया: क्रोधाद्या: स्मरसहचरा: पञ्चविषया:
प्रमादा मिथ्यात्वं वचनमनसी काय इति च ।
दुरन्ते दुर्ध्याने विरतिविरहश्चेति नियतं
स्रवन्त्येते पुंसां दुरितपटलं जन्मभयदम् ॥9॥
अन्वयार्थ : प्रथम तो मिथ्यात्वरूप परिणाम, दूसरे क्रोधादि कषाय, तीसरे काम के सहचारी (मित्र) पंचेन्द्रियों के विषय, चौथे प्रमाद विकथा, पाँचवें मन-वचन-काय के योग, छठे व्रतरहित अविरतिरूप परिणाम और सातवें आत्र्त-रौद्र दोनों अशुभ ध्यान ये सब परिणाम नियम से पापरूप आस्रवों को करते हैं ।
(दोहा)
आतम केवलज्ञानमय, निश्चयदृष्टि निहार ।
सब विभाव परिणाममय, आस्रवभाव विडार ॥७॥
सर्वास्रवनिरोधो य: संवर: स प्रकीर्तित: ।
द्रव्यभावविभेदेन स द्विधा भिद्यते पुन: ॥1॥
अन्वयार्थ : समस्त आस्रवों के निरोध को संवर कहा है। वह द्रव्यसंवर तथा भावसंवर के भेद से दो प्रकार का है ॥१॥
य: कर्मपुद्गलादानविच्छेद: स्यात्तपस्विन: ।
स द्रव्यसंवर: प्रोक्तो ध्याननिर्धूतकल्मषै: ॥2॥
अन्वयार्थ : ध्यान से पापों को उड़ाने वाले ऋषियों ने कहा है कि जो तपस्वी मुनियों के कर्मरूप पुद्गलों के ग्रहण करने का विच्छेद (निरोध) हो, वह द्रव्यसंवर है ॥२॥
या संसारनिमित्तस्य क्रियाया विरति: स्फुटम् ।
स भावसंवरस्तज्ज्ञैर्विज्ञेय: परमागमात् ॥3॥
अन्वयार्थ : संसार के कारणस्वरूप कर्म ग्रहण की क्रिया की विरति अर्थात् अभाव को भावसंवर कहते हैं, यह निश्चित है ऐसा उक्त भावसंवर के ज्ञाताओं को परमागम से जानना चाहिये ॥३॥
असंयममयैर्बाणै: संवृतात्मा न भिद्यते ।
यमी यथा सुसन्नद्धो वीर: समरसंकटे ॥4॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार युद्ध के संकट में भले प्रकार से सजा हुआ वीर पुरुष बाणों से नहीं भिदता है, उसी प्रकार संसार की कारणरूप क्रियाओं से विरतिरूप संवर वाला संयमी मुनि भी असंयमरूप बाणों से नहीं भिदता है ॥४॥
जायते यस्य य: साध्य: स तेनैव निरुध्यते ।
अप्रमत्तै: समुद्युत्तै: संवरार्थं महर्षिभि: ॥5॥
अन्वयार्थ : प्रमादरहित संवर के लिए उद्यमी मर्हिषयों द्वारा जो जिसको साध्य हो, वह उसी से रोकना चाहिये ॥५॥

क्षमा क्रोधस्य मानस्य मार्दवं त्वार्जवं पुन: ।
मायाया: सङ्गसंन्यासो लोभस्यैते द्विष: क्रमात् ॥6॥
अन्वयार्थ : क्रोधकषाय का तो क्षमा शत्रु है तथा मान कषाय का मृदुभाव (कोमल भाव), मायाकषाय का ऋजुभाव (सरल भाव) और लोभकषाय का परिग्रहत्याग भाव; इस प्रकार अनुक्रम से शत्रु जानने चाहिये ॥६॥
रागद्वेषौ समत्वेन निर्ममत्वेन वाऽनिशम् ।
मिथ्यात्वं दृष्टियोगेन निराकुर्वन्ति योगिन: ॥7॥
अन्वयार्थ : जो योगी ध्यानी मुनि हैं वे निरन्तर समभावों से अथवा निर्ममत्व से राग द्वेष का निराकरण (परास्त) करते रहते हैं तथा सम्यग्दर्शन के योग से मिथ्यात्वरूप भावों को नष्ट कर देते हैं ॥७॥
अविद्याप्रसरोद्भूतं तमस्तत्त्वावरोधकम् ।
ज्ञानसूर्यांशुभिर्बाढं स्फेटयन्त्यात्मदर्शिन: ॥8॥
अन्वयार्थ : आत्मा को अवलोकन करने वाले मुनिगण अविद्या के विस्तार से उत्पन्न और तत्त्वज्ञान को रोकने वाले अज्ञानरूपी अंधकार को ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से अतिशय दूर कर देते हैं ॥८॥
असंयमगरोद्गारं सत्संयमसुधाम्बुभि: ।
निराकरोति नि:शंकं संयमी संवरोद्यत: ॥9॥
अन्वयार्थ : संवर करने में तत्पर संयमी और नि:शंक मुनि असंयमरूपी विष के (जहर के) उद्गार को संयमरूपी अमृतमयी जलों से दूर कर देते हैं ॥९॥
द्वारपालीव यस्योच्चैर्विचारचतुरा मति: ।
हृदि स्फुरति तस्याघसूति: स्वप्नेऽपि दुर्घटा ॥10॥
अन्वयार्थ : जिस पुरुष के हृदय में द्वारपाल के समान अतिशय विचार करने वाली चतुर मति कलोलें करती हैं उसके हृदय में स्वप्न में भी पाप की उत्पत्ति होनी कठिन है।
विहाय कल्पनाजालं स्वरूपे निश्चलं मन: ।
यदाधत्ते तदैव स्यान्मुने: परमसंवर: ॥11॥
अन्वयार्थ : जिस समय समस्त कल्पनाओं के जाल को छोड़कर अपने स्वरूप में मन को निश्चलता से थामते हैं, उस ही काल मुनि को परमसंवर होता है ॥११॥
(मालिनी)
सकलसमितिमूल: संयमोद्दामकाण्ड:
प्रशमविपुलशाखो धर्मपुष्पावकीर्ण: ।
अविकलफलबन्धैर्बन्धुरो भावनाभि-
र्जयति जितविपक्ष: संवरोद्दामवृक्ष: ॥13॥
अन्वयार्थ : ईर्या समिति आदि पाँच समितियाँ ही हैं मूल अर्थात् जड़ जिसकी, सामायिक आदि संयम ही हैं स्कन्ध जिसके और प्रशमरूप (विशुद्धभावरूप) बड़ी-बड़ी शाखा वाले उत्तम क्षमा आदि दस धर्म हैं पुष्प जिसके तथा मजबूत अविकल हैं फल जिसमें, ऐसा बारह भावनाओं से सुन्दर यह संवररूपी महावृक्ष सर्वोपरि है ॥१३॥
(दोहा)
निजस्वरूप में लीनता, निश्चय संवर जानि ।
समिति-गुप्ति-संयम धरम, करें पाप की हानि ॥८॥
यया कर्माणि शीर्यन्ते बीजभूतानि जन्मन: ।
प्रणीता यमिभि: सेयं निर्जरा जीर्णबन्धनै: ॥1॥

अन्वयार्थ : नर्जरा से जीर्ण हो गये हैं कर्मबन्ध जिनके ऐसे मुनिजन, जिससे संसार के बीजरूप कर्म गल जाते हैं व झड़ जाते हैं, उसे निर्जरा कहते हैं ॥१॥

सकामाकामभेदेन द्विधा सा स्याच्छरीरिणाम् ।
निर्जरा यमिनां पूर्वा ततोऽन्या सर्वदेहिनाम् ॥2॥

अन्वयार्थ : यह निर्जरा जीवों को सकाम और अकाम दो प्रकार की होती है। इनमें से पहली सकाम निर्जरा तो मुनियों को होती है और दूसरी अकाम निर्जरा समस्त जीवों को होती है इससे अर्थात् अकाम निर्जरा से बिना तपश्चरणादि के स्वयमेव निरन्तर ही कर्म उदय रस देकर क्षरते रहते हैं ॥२॥

पाक: स्वयमुपायाच्च स्यात्फलानां तरोर्यथा ।
तथात्र कर्मणां ज्ञेय: स्वयं सोपायलक्षण: ॥3॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार वृक्षों के फलों का पकना एक तो स्वयं ही होता है, दूसरे पाल देने से भी होता है इसी प्रकार कर्मों का पकना भी है अर्थात् एक तो कर्मों की स्थिति पूरी होने पर फल देकर क्षर जाती है दूसरे सम्यग्दर्शनादि सहित तपश्चरण करने से कर्म नष्ट हो जाते हैं अर्थात् क्षर जाते हैं ॥३॥

विशुद्ध्यति हुताशेन सदोषमपि काञ्चनम् ।
यद्वत्तथैव जीवोऽयं तप्यमानस्तपोऽग्निना ॥4॥

अन्वयार्थ : जैसे सदोष भी सुवर्ण (सोना) अग्नि में तपाने से विशुद्ध हो जाता है उसी प्रकार यह कर्मरूपी दोषों सहित जीव तपरूपी अग्नि में तपने से विशुद्ध और निर्दोष (कर्म रहित) हो जाता है ॥४॥

चमत्कारकरं धीरैर्बाह्यमाध्यात्मिकं तप: ।
तप्यते जन्मसन्तानशंकितैरार्यसूरिभि: ॥5॥

अन्वयार्थ : संसार की परिपाटी से भयभीत धीर और श्रेष्ठ मुनीश्वरगण, उक्त निर्जरा का एकमात्र कारण तप ही है ऐसा जानकर बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार का तप करते हैं ॥५॥

तत्र बाह्यं तप: प्रोक्तमुपवासादिषड्विधम् ।
प्रायश्चित्तादिभिर्भेदैरन्तरङ्गं च षड्विधम् ॥6॥

अन्वयार्थ : उनमें से अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह तो बाह्य (बहिरंग) तप हैं और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अभ्यन्तर तप हैं । इनका विशेषरूप जानना हो तो तत्वार्थसूत्र की टीकाओं को देखना चाहिये ॥६॥

निर्वेदपदवीं प्राप्य तपस्यति यथा यथा ।
यमी क्षपति कर्माणि दुर्जयानि तथा तथा ॥7॥

अन्वयार्थ : संयमी मुनि वैराग्य पदवी को प्राप्त होकर जैसे जैसे (ज्यों-ज्यों) तप करते हैं तैसे-तैसे (त्यों-त्यों) दुर्जय कर्मों को क्षय करते हैं ॥७॥

ध्यानानलसमालीढमप्यनादिसमुद्भवम् ।
सद्य: प्रक्षीयते कर्म शुद्ध्यत्यङ्गी सुवर्णवत् ॥8॥

अन्वयार्थ : यद्यपि कर्म अनादिकाल से जीव के साथ लगे हुए हैं तथापि वे ध्यानरूपी अग्नि से स्पर्श होने पर तत्काल ही क्षय हो जाते हैं । उनके क्षय हो जाने से जैसे अग्नि के ताप से सुवर्ण शुद्ध होता है उसी प्रकार यह प्राणी भी तप से कर्म नष्ट होकर शुद्ध (मुक्त) हो जाता है ॥८॥

(शिखरिणी)

तपस्तावद्बाह्यं चरति सुकृती पुण्यचरित-
स्ततश्चात्माधीनं नियतविषयं ध्यानपरमम् ।

क्षपत्यन्तर्लीनं चिरतरचितं कर्मपटलं
ततो ज्ञानाम्भोधिं विशति परमानन्दनिलयम् ॥12॥

अन्वयार्थ : पवित्र आचरण वाला सुकृती पुरुष प्रथम अनशनादि बाह्य तपों का आचरण करता है तत्पश्चात् आत्माधीन अभ्यन्तर तपों को आचरता है और उनमें नियत विषय वाले ध्यान नामक उत्कृष्ट तप को आचरता है। इस तप से चिरकाल से संचित किये हुए कर्मरूपी पटल को (घातिया कर्मों को) क्षय करता है और पश्चात् परमानन्द के (अतीन्द्रिय सुख के) घर ज्ञानरूपी समुद्र में प्रवेश करता है।

(दोहा)

संवरमय है आतमा, पूर्व कर्म झड़ जाय ।
निजस्वरूप को पाय कर, लोकशिखर जब थाय ॥९॥

पवित्रीक्रियते येन येनैवोध्द्रियते जगत् ।
नमस्तस्मै दयार्द्राय धर्मकल्पाङ्घ्रिपाय वै ॥1॥

अन्वयार्थ : जिस धर्म से जगत पवित्र किया जाता है तथा उद्धार किया जाता है और जो दयारूपी रस से आद्र (गीला) और हरा है उस धर्मरूपी कल्पवृक्ष के लिये मेरा नमस्कार है ॥१॥

दशलक्ष्मयुत: सोऽयं जिनैर्धर्म: प्रकीर्तित: ।
यस्यांशमपि संसेव्य विन्दन्ति यमिन: शिवम् ॥2॥

अन्वयार्थ : वह धर्म जिसके अंशमात्र को भी सेवन करके संयमी मुनि मुक्ति को प्राप्त होते हैं, उसे जिनेन्द्र भगवान ने दश लक्षणयुक्त कहा है ॥२॥

न सम्यग्गदितुं शक्यं यत्स्वरूपं कुदृष्टिभि: ।
हिंसाक्षपोषकै: शास्त्रैरतस्तैस्तन्निगद्यते ॥3॥

अन्वयार्थ : धर्म का स्वरूप मिथ्यादृष्टियों तथा हिंसा और इन्द्रिय विषय पोषण करने वाले शास्त्रों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जा सकता है। इस कारण इस धर्म का वास्तविक स्वरूप हम कहते हैं ॥३॥

चिन्तामणिर्निधिर्दिव्य: स्वर्धेनु: कल्पपादपा: ।
धर्मस्यैते श्रिया सार्द्धं मन्ये भृत्याश्चिरन्तना: ॥4॥

अन्वयार्थ : लक्ष्मीसहित चिन्तामणि, दिव्य नवनिधि, कामधेनु और कल्पवृक्ष, ये सब धर्म के चिरकाल से किंकर (सेवक) हैं, ऐसा मैं मानता हूँ ॥४॥

धर्मो नरोरगाधीशनाकनायकवाञ्छिताम् ।
अपि लोकत्रयीपूज्यां श्रियं दत्ते शरीरिणाम् ॥5॥

अन्वयार्थ : धर्म जीवों को चक्रवर्ती, धरणीन्द्र तथा देवेन्द्रों द्वारा वांछित और त्रैलोक्यपूज्य तीर्थंकर की लक्ष्मी को देता है ॥५॥

धर्मो व्यसनसंपाते पाति विश्वं चराचरम् ।
सुखामृतपय: पूरै: प्रीणयत्यखिलं जगत् ॥6॥

अन्वयार्थ : धर्म कष्ट के आने पर समस्त जगत के त्रस, स्थावर जीवों की रक्षा करता है और सुखरूपी अमृत के प्रवाहों से समस्त जगत को तृप्त करता है ॥६॥

पर्जन्यपवनार्केन्दुधराम्बुधिपुरन्दरा: ।
अमी विश्वोपकारेषु वर्त्तन्ते धर्मरक्षिता: ॥7॥

अन्वयार्थ : मेघ, पवन, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, समुद्र और इन्द्र ये सम्पूर्ण पदार्थ जगत के उपकाररूप प्रवर्तते हैं और वे सब ही धर्म द्वारा रक्षा किये हुए प्रवर्तते हैं । धर्म के बिना ये कोई भी उपकारी नहीं होते हैं ॥७॥

मन्येऽसौ लोकपालानां व्याजेनाव्याहतक्रम: ।
जीवलोकोपकारार्थं धर्म एव विजृम्भित: ॥8॥

अन्वयार्थ : मैं मानता हूँ कि इन्द्रादिक, लोकपाल अथवा राजादिकों के बहाने से लोकों के उपकारार्थ यह धर्म ही अव्याहत (अबाधित) फैल रहा है ॥८॥

न तत्त्रिजगतीमध्ये भुक्तिमुक्त्योर्निबन्धनम् ।
प्राप्यते धर्मसामर्थ्यान्न यद्यमितमानसैः ॥9॥

अन्वयार्थ : इस तीन जगत में भोग और मोक्ष का ऐसा कोई भी कारण नहीं है जिसको धर्मात्मा पुरुष धर्म की सामर्थ्य से न पाते हों अर्थात् धर्मसामर्थ्य से समस्त मनोवांछित पद को प्राप्त होते हैं ॥९॥

नमन्ति पादराजीवराजिकां नतमौलयः ।
धर्मैकशरणीभूतचेतसां त्रिदशेश्वराः ॥10॥

अन्वयार्थ : जिनके चित्त में धर्म ही एक शरणभूत है, उनके चरणकमलों की पंक्ति को इन्द्रगण भी नम्रीभूत मस्तक से नमस्कार करते हैं ॥१०॥

धर्मो गुरुश्च मित्रं च धर्मः स्वामी च बान्धवः ।
अनाथवत्सलः सोऽयं संत्राता कारणं विना ॥11॥

अन्वयार्थ : धर्म गुरु है, मित्र है, स्वामी है, बांधव है, हितू है और धर्म ही बिना कारण अनाथों की प्रीतिपूर्वक रक्षा करने वाला है। इस प्राणी को धर्म के अतिरिक्त और कोई भी शरण देने वाला न हीं है ॥११॥

धत्ते नरकपाताले निमज्जज्जगतां त्रयम् ।
योजयत्यपि धर्मोऽयं सौख्यमत्यक्षमङ्गिनां ॥12॥

अन्वयार्थ : यह धर्म, नरकों के नीचे जो निगोद स्थान है उसमें पड़ते हुए जगत्त्रय को धारण करता है-अवलम्बन देकर बचाता है तथा जीवों को अतीन्द्रिय सुख भी प्रदान करता है ॥१२॥

नरकान्धमहाकूपे पततां प्राणिनां स्वयम् ।
धर्म एव स्वसामर्थ्याद्दत्ते हस्तावलम्बनम् ॥13॥

अन्वयार्थ : नरकरूपी महा अंधकूप में स्वयं गिरते हुए जीवों को धर्म ही अपने सामर्थ्य से हस्तावलम्बन (हाथ का सहारा) देकर बचाता है ॥१३॥

महातिशयसम्पूर्णम् कल्याणोद्दाममन्दिरम् ।
धर्मो ददाति निर्विघ्नं श्रीमत् सर्वज्ञवैभवम् ॥14॥

अन्वयार्थ : धर्म, महाअतिशय से पूर्ण, कल्याणों के उत्कट निवासस्थान और निर्विघ्न ऐसे लक्ष्मी सहित सर्वज्ञ भगवान के वैभव (तीर्थंकर पदवी) को प्राप्त कराता है ॥१४॥

याति सार्धं तथा पाति करोति नियतं हितम् ।
जन्मपङ्कात्समुद्धृत्य स्थापयत्यमले पथि ॥15॥

अन्वयार्थ : धर्म परलोक में प्राणी के साथ जाता है, उसकी रक्षा करता है, नियम से उसका हित करता है तथा संसाररूपी कर्दम से उसे निकालकर निर्मल मोक्षमार्ग में स्थापन करता है ॥१५॥

न धर्मसदृशः कश्चित्सर्वाभ्युदयसाधकः ।
आनन्दकुञ्जकन्दश्च हितः पूज्यः शिवप्रदः ॥16॥

अन्वयार्थ : इस जगत में धर्म के समान अन्य कोई समस्त प्रकार के अभ्युदय का साधक नहीं है। यह मनोवांछित सम्पदा का देने वाला है। आनन्दरूपी वृक्ष का कन्द है अर्थात् आनन्द के अंकुर इससे ही उत्पन्न होते हैं तथा हितरूप, पूजनीय और मोक्ष का देने वाला भी यही है ॥१६॥

व्यालानलोरगव्याघ्रद्विपशार्दूलराक्षसाः ।
नृपादयोऽपि द्रुह्यन्ति न धर्माधिष्ठितात्मने ॥17॥

अन्वयार्थ : जो धर्म से अधिष्ठित (सहित) आत्मा है, उसके साथ सर्प, अग्नि, विष, व्याघ्र, हस्ती, सिंह, राक्षस तथा राजादिक भी द्रोह नहीं करते हैं अर्थात् यह धर्म इन सबसे रक्षा करता है अथवा धर्मात्माओं के ये सब रक्षक होते हैं ॥१७॥

नि:शेषं धर्मसामर्थ्यं न सम्यग्वक्तुमीश्वर: ।

स्फुरद्वक्त्रसहस्त्रेण भुजङ्गेशोऽपि भूतले ॥18॥

अन्वयार्थ : धर्म का समस्त सामर्थ्य भले प्रकार कहने को स्फुरायमान सहस्र मुख वाला नागेन्द्र भी इस भूतल में समर्थ नहीं है। फिर हम कैसे समर्थ हो सकते हैं ? ॥१८॥

धर्मधर्मेति जल्पन्ति तत्त्वशून्या: कुदृष्टय: ।

वस्तुतत्त्वं न बुध्यन्ते तत्परीक्षाऽक्षमा यत: ॥19॥

अन्वयार्थ : तत्त्व के यथार्थ ज्ञान से शून्य मिथ्यादृष्टि 'धर्म-धर्म' ऐसा तो कहते हैं परन्तु वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते क्योंकि वे उसकी परीक्षा करने में असमर्थ हैं ॥१९॥

तितिक्षा मार्दवं शौचमार्जवं सत्यसंयमौ ।

ब्रह्मचर्यं तपस्त्यागाकिञ्चन्यं धर्म उच्यते ॥20॥

अन्वयार्थ : १-क्षमा, २-मार्दव, ३-शौच, ४-आर्जव, ५-सत्य, ६-संयम, ७-ब्रह्मचर्य, ८- तप, ९-त्याग और १०-आिंकचन्य, ये दस प्रकार के धर्म हैं ॥२०॥

(आर्या)

यद्यत्स्वस्यानिष्टं तत्तद्वाक्चित्तकम्-र्मभि: कार्यम् ।

स्वप्नेऽपि नो परेषामिति धर्मस्याग्रिमं लिङ्गम् ॥21॥

अन्वयार्थ : धर्म का मुख्य (प्रधान) चिह्न यह है कि जो-जो क्रियायें अपने को अनिष्ट (बुरी) लगती हों, सो-सो अन्य के लिये मन-वचन-काय से स्वप्न में भी नहीं करनी चाहिये ॥२१॥

(शार्दूलविक्रीडितम्)

धर्म: शर्म: भुजङ्गपुङ्गवपुरीसारं विधातुं क्षमो

धर्म: प्रापितमर्त्यलोकविपुलप्रीतिस्तदाशंसिनां ।

धर्म: स्वर्नगरीनिरन्तरसुखास्वादोदयस्यास्पदम्

धर्म: किं न करोति मुक्तिललनासंभोगयोग्यं जनम् ॥22॥

अन्वयार्थ : यह धर्म धर्मात्मा पुरुषों को धरणीन्द्र की पुरी के सारसुख को करने में समर्थ है तथा यह धर्म उस धर्म के वांछक और उसके पालने वाले पुरुषों को मनुष्यलोक में विपुल प्रीति (सुख) प्राप्त कराता है और यह धर्म स्वर्गपुरी के निरन्तर सुखास्वाद के उदय का स्थान है तथा यह धर्म ही मनुष्य को मुक्तिस्त्री से संभोग करने के योग्य कराता है। धर्म और क्या-क्या नहीं कर सकता ? ॥२२॥

(मालिनी)

यदि नरकनिपातस्त्यत्तुमत्यन्तमिष्ट-

स्त्रिदशपतिमहर्द्धिं प्राप्तुमेकान्ततो वा ।

यदि चरमपुमर्थ: प्रार्थनीयस्तदानीं

किमपरमभिधेयं नाम धर्मं विधत्त ॥23॥

अन्वयार्थ : हे आत्मन्! यदि तुझे नरक निपात का छोड़ना परम इष्ट है अथवा इन्द्र का महान विभव पाना एकान्त ही इष्ट है, यदि चारों पुरुषार्थों में से अन्त का पुरुषार्थ (मोक्ष) प्रार्थनीय ही है, तो और विशेष क्या कहा जाए, तू एकमात्र धर्म का सेवन कर क्योंकि धर्म से ही समस्त प्रकार के अनिष्ट नष्ट होकर समस्त प्रकार के इष्ट की प्राप्ति होती है ॥२३॥

(दोहा)

दर्श ज्ञानमय चेतना, आतमधर्म बखानि ।

दया-क्षमादिक रतनत्रय, यामें र्गिभत जानि ॥१०॥

यत्र भावा विलोक्यन्ते ज्ञानिभिश्चेतनेतरा: ।

जीवादय: स लोक: स्यात्ततोऽलोको नभ: स्मृत: ॥1॥

अन्वयार्थ : जितने आकाश में जीवादिक चेतन-अचेतन पदार्थ ज्ञानी पुरुषों ने देखे हैं, सो तो लोक है। उसके बाह्य जो केवल मात्र आकाश है, उसे अलोक व अलोकाकाश कहते हैं ॥१॥

वेष्टित: पवनै: प्रान्ते महावेगैर्महाबलै: ।

त्रिभिस्त्रिभुवनाकीर्णो लोकस्तालतरुस्थिति: ॥2॥

अन्वयार्थ : तीन भुवन सहित यह लोक अन्त में सब तरफ से अतिशय वेग वाले और अतिशय बलिष्ठ तीन वातवलयों से वेष्टित है और ताड़ वृक्ष के आकार सरीखा है अर्थात् नीचे से चौड़ा, बीच में सरल तथा अन्त में विस्ताररूप है ॥२॥

निष्पादित: स केनापि नैव नैवोद्धृतस्तथा ।

न भग्न: किन्त्वनाधारो गगने स स्वयं स्थित: ॥3॥

अन्वयार्थ : यह लोक किसी के द्वारा बनाया नहीं गया है अर्थात् अनादिनिधन है। भिन्न धर्मीगण इसे ब्रह्मादिक का बनाया हुआ कहते हैं, सो मिथ्या है तथा किसी से धारण किया हुआ व थामा हुआ हो, सो भी नहीं है। अन्यमती कच्छप की पीठ पर अथवा शेषनाग के फण पर ठहरा हुआ कहते हैं, यह उनका भ्रम है। यदि कोई आशंका करे कि बिना आधार के आकाश में कैसे ठहरेगा, भग्न हो जायेगा ? तो उत्तर देना चाहिये कि निराधार होने पर भी भग्न नहीं होता अर्थात् आकाश में वातवलय के आधार से स्वयमेव स्थित है ॥३॥

अनादिनिधन: सोऽयं स्वयं सिद्धोऽप्यनश्वर: ।

अनीश्वरोऽपि जीवादिपदार्थै: संभृतो भृशम् ॥4॥

अन्वयार्थ : यद्यपि यह लोक अनादिनिधन है, स्वयंसिद्ध है, अविनाशी है और इसका कोई ईश्वर, स्वामी व कर्त्ता नहीं है; तथापि जीवादिक पदार्थों से भरा हुआ है। अन्यमती लोक-रचना की अनेक प्रकार की कल्पनायें करते हैं, वे सब ही सर्वथा मिथ्या हैं ॥४॥

अधो वेत्रासनाकारो मध्ये स्याज्झल्लरीनिभ: ।

मृदङ्गसदृशश्चाग्रे स्यादित्थं स त्रयात्मक: ॥5॥

अन्वयार्थ : यह लोक नीचे तो वेत्रासन अर्थात् मोढ़े के आकार का है अर्थात् नीचे से चौड़ा है, पीछे ऊपर-ऊपर घटता आया है और बीच में झालर के जैसा है तथा ऊपर मृदंग के समान अर्थात् दोनों तरफ सकरा और बीच में चौड़ा है। इस प्रकार तीन स्वरूपात्मक यह लोक स्थित है ॥५॥

यत्रैते जन्तव: सर्वे नानागतिषु संस्थिता: ।

उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते कर्मपाशवशंगता: ॥6॥

अन्वयार्थ : इस लोक में ये सब प्राणी नाना गतियों में संस्थित अपने-अपने कर्मरूप फाँसी के वशीभूत होकर मरते तथा उपजते रहते हैं ॥६॥

(मालिनी)

पवनवलयमध्ये संभृतोऽत्यन्तगाढं

स्थितिजननविनाशालिङ्गितैर्वस्तुजातै: ।

स्वयमिह परिपूर्णोऽनादिसिद्ध: पुराण:

कृतिविलयविहीन: स्मर्यतामेष लोक: ॥7॥

अन्वयार्थ : इस लोक को ऐसा चिंतवन करना चाहिये कि तीन वलयों के मध्य में स्थित है। पवनों से अतिशय गाढ़रूप घिरा हुआ है। इधर-उधर चलायमान नहीं होता और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित वस्तु-समूहों से अनादिकाल से स्वयमेव भरा हुआ है अर्थात् अनादिसिद्ध है, किसी का रचा हुआ नहीं है इसी कारण पुराण है तथा उत्पत्ति और प्रलय से रहित है। इस प्रकार लोक को स्मरण करते रहो, यह लोकभावना का उपदेश है।

(दोहा)
लोकस्वरूप विचारिके, आतमरूप निहारि ।
परमारथ व्यवहार मुणि, मिथ्याभाव निवारि ॥११॥
दुरन्तदुरितारातिपीडितस्य प्रतिक्षणम् ।
कृच्छ्रान्नरकपातालतलाज्जीवस्य निर्गम: ॥1॥
अन्वयार्थ : बुरा है अन्त जिसका, ऐसे पापरूपी वैरी से निरन्तर पीड़ित इस जीव का प्रथम तो नरकों के नीचे निगोदस्थान है, सो वहाँ के नित्यनिगोद से निकलना अत्यन्त कठिन है ॥१॥
तस्माद्यदि विनिष्क्रान्त: स्थावरेषु प्रजायते ।
त्रसत्वमथवाप्नोति प्राणी केनापि कर्मणा ॥2॥
अन्वयार्थ : उस नित्यनिगोद से निकला तो फिर पृथ्वीकायादि स्थावर जीवों में उपजता है और किसी पुण्यकर्म के उदय से स्थावर काय से त्रसगति पाता है ॥२॥
यत्पर्याप्तस्तथा संज्ञी पञ्चाक्षोऽवयवान्वित: ।
तिर्यक्ष्वपि भवत्यङ्गी तन्न स्वल्पाशुभक्षयात् ॥3॥
अन्वयार्थ : कदाचित् त्रसगति भी पावे तो तिर्यंच योनि में पर्याप्तता (पूर्णावयवसंयुक्तत्व) पाना कुछ न्यून पाप के क्षय से नहीं होता है अर्थात् बहुत पाप के क्षय होने पर पाता है। उसमें भी मन सहित पंचेन्द्रिय पशु का शरीर पाना बहुत ही दुर्लभ है, तिस पर भी सम्पूर्ण अवयव पाना अतिशय दुर्लभ है ॥३॥
नरत्वं यद्गुणोपेतं देशजात्यादिलक्षितम् ।
प्राणिन: प्राप्नुवन्त्यत्र तन्मन्ये कर्मलाघवात् ॥4॥
अन्वयार्थ : ये प्राणीगण संसार में मनुष्यपना और उसमें गुणसहितपना तथा उत्तम देश, जाति, कुल आदि साहित्य उत्तरोत्तर कर्मों के क्षय से पाते हैं । ये बहुत दुर्लभ हैं, ऐसा मैं मानता हूँ ॥४॥
आयु: सर्वाक्षसामग्री बुद्धि: साध्वी प्रशान्तता ।
यत्स्यात्तत्काकतालीयं मनुष्यत्वेऽपि देहिनाम् ॥5॥
अन्वयार्थ : जीवों के देश, जाति, कुलादि सहित मनुष्यपना होते हुए भी दीर्घायु, पाँचों इन्द्रियों की पूर्ण सामग्री, विशिष्ट तथा उत्तम बुद्धि, शीतल मंद कषायरूप परिणामों का होना काकतालीयन्याय के समान दुर्लभ जानना चाहिये ॥५॥
*जैसे किसी समय ताल का फल पक कर गिरे और उस ही समय काक का आना हो एवं वह उस फल को आकाश में ही पाकर खाने लगे। ऐसा योग मिलना अत्यन्त कठिन है ।
ततो निर्विषयं चेतो यमप्रशमवासितम् ।
यदि स्यात्पुण्ययोगेन न पुनस्तत्त्वर्निश्चय: ॥6॥
अन्वयार्थ : कदाचित् पुण्य के योग से उक्त सामग्री प्राप्त हो जावें तो विषयों से विरक्त वा व्रतरूप परिणाम तथा यम-प्रशमरूप शुद्ध भावों सहित चित्त का होना बड़ा कठिन है। कदाचित् पुण्य के योग से इनकी प्राप्ति हो जाये, तो तत्त्वनिर्णय होना अत्यन्त दुर्लभ है ॥६॥
अत्यन्तदुर्लभेष्वेषु दैवाल्लब्धेष्वपि क्वचित् ।
प्रमादात्प्रच्यवन्तेऽत्र केचित्कामार्थलालसा: ॥7॥
अन्वयार्थ : यद्यपि पूर्वोक्त सामग्री अत्यन्त दुर्लभ है तथापि यदि दैवयोग से प्राप्त हो जाय तो अनेक संसारी जीव प्रमाद के वशीभूत होकर काम और अर्थ में लुब्ध होकर सम्यग्मार्ग से च्युत हो जाते हैं और विषयकषाय में लग जाते हैं ॥७॥
मार्गमासाद्य केचिच्च सम्यग्रत्नत्रयात्मकम् ।
त्यजन्ति गुरुमिथ्यात्वविषव्यामूढचेतस: ॥8॥
अन्वयार्थ : कोई-कोई सम्यक् रत्नत्रय मार्ग को पाकर भी तीव्र-मिथ्यात्वरूप विष से व्यामूढ़ चित्त होते हुए सम्यग्मार्ग को छोड़ देते हैं ।

गृहीत मिथ्यात्व बड़ा बलवान है, जो उत्तम मार्ग मिले तो उसको भी छुड़ा देता है ॥८॥
स्वयं नष्टो जन: कश्चित्कश्चिन्नष्टैश्च नाशित: ।
कश्चित्प्रच्यवते मार्गाच्चण्डपाषण्डशासनै: ॥9॥
अन्वयार्थ : कोई-कोई तो सम्यग्मार्ग से आप ही नष्ट हो जाते हैं । कोई अन्य मार्ग से च्युत हुए मनुष्यों के द्वारा नष्ट किये जाते हैं और कोई-कोई प्रचंड पाखंडियों के उपदेशे हुए मतों को देखकर मार्ग से च्युत हो जाते हैं ॥९॥
त्यक्त्वा विवेकमाणिक्यं सर्वाभिमतसिद्धिदम् ।
अविचारितरम्येषु पक्षेष्वज्ञ: प्रवत्र्तते ॥10॥
अन्वयार्थ : जो मार्ग से च्युत अज्ञानी है वह समस्त मनोवांछित सिद्धि के देने वाले विवेकरूपी चिन्तामणि रत्न को छोड़कर बिना विचार के रमणीक भासने वाले पक्षों में (मतों में) प्रवृत्ति करने लग जाता है॥१०॥
अविचारितरम्याणि शासनान्यसतां जनै: ।
अधमान्यपि सेव्यन्ते जिह्वोपस्थादिदण्डितै: ॥11॥
अन्वयार्थ : जो पुरुष जिह्वा तथा उपस्थादि इन्द्रियों से दंडित हैं, वे अविचार से रमणीक भासने वाले दुष्टों के चलाए हुए अधम मतों को भी सेवन करते हैं । विषयकषाय क्या-क्या अनर्थ नहीं कराते ? ॥११॥
सुप्रापं न पुन: पुंसां बोधिरत्नं भवार्णवे ।
हस्ताद्भ्रष्टं यथा रत्नं महामूल्यं महार्णवे ॥12॥
अन्वयार्थ : यह जो बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप रत्नत्रय है, संसाररूपी समुद्र में प्राप्त होना सुगम नहीं है किन्तु अत्यन्त दुर्लभ है। इसको पाकर भी जो खो बैठते हैं, उनको हाथ में रखे हुए रत्न को बड़े समुद्र में डाल देने पर जैसे फिर मिलना कठिन है, उसी प्रकार सम्यक-रत्नत्रय का पाना दुर्लभ है ॥१२॥
(मालिनी)
सुलभमिह समस्तं वस्तुजातं जगत्या-
मुरगसुरनरेन्द्रै: प्रार्थितं चाधिपत्यम्
कुलबलसुभगत्वोद्दामरामादि चान्यत्
किमुत तदिदमेवं दुर्लभं बोधिरत्नम् ॥13॥
अन्वयार्थ : इस जगत में (त्रैलोक में) समस्त द्रव्यों का समूह सुलभ है तथा धरणीन्द्र, नरेन्द्र, सुरेन्द्रों द्वारा प्रार्थना करने योग्य अधिपतिपना भी सुलभ है क्योंकि ये सब ही कर्मों के उदय से मिलते हैं तथा उत्तम कुल, बल, सुभगता, सुन्दर स्त्री आदिक समस्त पदार्थ सुलभ हैं; किन्तु जगत्प्रसिद्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप बोधिरत्न अत्यन्त दुर्लभ है। इस प्रकार बोधिदुर्लभभावना का व्याख्यान पूर्ण किया ॥२३॥
(दोहा)
बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहिं ।
भव में प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहिं ॥१२॥
दीव्यन्नाभिरयं ज्ञानी भावनाभिर्निरन्तरम् ।
इहैवाप्नोत्यनातङ्कं सुखमत्यक्षमक्षयम् ॥1॥
अन्वयार्थ : इन बारह भावनाओं से निरन्तर रमते हुए ज्ञानीजन इसी लोक में रोगादिक की बाधारहित अतीन्द्रिय अविनाशी सुख (केवलज्ञानानन्द) को पाते हैं ॥१॥
(आर्या)
विध्याति कषायाग्निर्विगलति रागो विलीयते ध्वान्तम् ।
उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात् ॥2॥

अन्वयार्थ : इन द्वादश भावनाओं के निरन्तर अभ्यास करने से पुरुषों के हृदय में कषायरूप अग्नि बुझ जाती है तथा परद्रव्यों के प्रति रागभाव गल जाता है और अज्ञानरूप अंधकार का विलय होकर ज्ञानरूप दीपक का प्रकाश होता है ॥२॥

(शार्दूलविक्रीडितम्)

एता द्वादशभावना: खलु सखे सख्योऽपवर्गश्रिय-

स्तस्या: सङ्गमलालसैर्घटयितुं मैत्रीं प्रयुक्ता बुधै: ।

एतासु प्रगुणीकृतासु नियतं मुक्त्यङ्गना जायते

सानन्दा प्रणयप्रसन्नहृदया योगीश्वराणां मुदे ॥3॥

अन्वयार्थ : मित्र! ये बारह भावनायें निश्चय से मुक्तिरूपी लक्ष्मी की सखी हैं । इन्हें मुक्तिरूपी लक्ष्मी के संगम की लालसा करने वाले पंडितगणों ने मित्रता करने के अर्थ प्रयोगरूप कही हैं । इन भावनाओं के अभ्यास करने से मुक्तिरूपी स्त्री आनन्द सहित स्नेहरूप प्रसन्न हृदय होकर योगीश्वरों को आनन्ददायिनी होती है।

(दोहा)

ऐसे भावे भावना, शुभ वैराग्य जु पाय ।

ध्यान करे निज रूप को, ते शिव पहुँचे धाय ॥२॥